जिनवरस्य नयचक्रम्

(पूर्वार्द्ध)

© लेखक :

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम० ए०, पीएच० डी०

श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५

प्रथमावृति : १२,०००
२५ अप्रेल, १९८२ ई०
'पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी की मंगलमय
तेरानवेवी जन्म-जयन्ती के मंगल प्रसङ्ग पर'

मूल्य :
साधारण : चार रुपये
सजिल्द : पाँच रुपये
प्लास्टिक कवर सहित सजिल्द : छह रुपये

प्राप्ति स्थान :
(१) पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५ (राज०)

(२) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ – ३६४२५०, जिला – भावनगर (सौराष्ट्र)

मुद्रक :
जयपुर प्रिण्टर्स
मिर्जा इस्माइल रोड
जयपुर – ३०२००१

जिनवरस्य नयचक्रम्

(पूर्वार्द्ध)

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

लेखक के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१.	पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व [हिन्दी]	११.००
२.	तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़]	६.००
३.	जिनवरस्य नयचक्रम्	६.००
४.	धर्म के दशलक्षण [हि., गु., म., क., तमिल]	६.००
५.	क्रमबद्धपर्याय [हि., गु., म., क., त.]	५.००
६.	अपने को पहिचानिए [हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी]	०.६०
७.	सत्य की खोज सम्पूर्ण [हि., गु., म., त., क.]	४.००
८.	मैं कौन हूँ ? [हि., गु., म., क., त.]	१.२५
९.	युगपुरुष श्री कानजी स्वामी [हि., गु., म., क., त.]	२.००
१०.	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर [हि., गु.]	०.२५
११.	तीर्थंकर भगवान महावीर [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, असमी, तेलगु, अंग्रेजी]	०.५०
१२.	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका [हिन्दी]	४.००
१३.	पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य [हि., गु.]	०.६५
१४.	अर्चना (पूजन संग्रह) [हिन्दी]	०.४०
१५.	बालबोध पाठमाला भाग २ [हि. गु. म. क. त. बंगला]	०.८५
१६.	बालबोध पाठमाला भाग ३ [हि. गु. म. क. त. बंगला]	०.८५
१७.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ [हि., गु., म., क.]	१.००
१८.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग २ [हि., गु., म., क.]	१.२५
१९	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग ३ [हि., गु., म., क.]	१.२५
२०.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ [हि., गु., म., क.]	१.२५
२१.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २ [हिन्दी, गुजराती]	१.४०

सम्पादित कृतियाँ

१.	मोक्षमार्ग प्रकाशक	७.००
२.	प्रवचन रत्नाकर भाग १	१०.००
३.	प्रवचन रत्नाकर भाग २	१०.००
४.	बालबोध पाठमाला भाग १	००.५०

प्रकाशकीय

समस्त जिनागम नयों की भाषा में निबद्ध है। अतः आगम के गहन अभ्यास के लिए जिसप्रकार नयों का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है, उसीप्रकार आत्मा के सम्यक् अवलोकन अर्थात् अनुभव के लिए भी नयविभाग द्वारा भेदज्ञान करना परमावश्यक है। इसप्रकार आगम और अध्यात्म – दोनों के अभ्यास के लिए नयो का स्वरूप गहराई से जानने की आवश्यकता असंदिग्ध है।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'जिनवरस्य नयचक्रम्' मे नयों का स्वरूप एवं उनके सम्बन्ध मे आनेवाली विषम गुत्थियों को सुलझाते हुए सरल एवं सुबोध भाषा मे यह बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट की गई है कि इनसे अपने आत्महितरूप प्रयोजन की सिद्धि किसप्रकार हो सकती है। प्रस्तुतिकरण इतना सुन्दर है कि कही भी उलझाव नहीं होता, सर्वत्र समन्वय की सुगन्ध प्रतिभासित होती है।

इस अद्‌भुत ग्रन्थ की रचना का भी एक इतिहास है। बात सन् १९७९ ई० की है। श्रावणमास में लगनेवाले सोनगढ़ शिविर मे जब डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने 'नयचक्र' ग्रंथ को उत्तम कक्षा के रूप में पढाने के लिए चुना और उसमें से अध्यात्म के गंभीर न्याय प्रस्तुत किये, तब उपस्थित सम्पूर्ण मुमुक्षु समाज को लगा कि नयो के गहरे अध्ययन बिना जिनागम का मर्म समझ पाना सहज संभव नही है। अबतक जो 'नयचक्र' न्याय का ग्रन्थ माना जाकर मुमुक्षु समाज में अध्ययन की दृष्टि से उपेक्षित रह गया था, उसके गहरे अध्ययन की जिज्ञासा भी डॉ० भारिल्लजी के विवेचन द्वारा जागृत हो गई।

सभी की भावनानुसार उपयुक्त अवसर जानकर मैंने डॉ० भारिल्लजी से 'क्रमबद्धपर्याय' समाप्त हो जाने के बाद आत्मधर्म के सम्पादकीयों के रूप मे एक लेखमाला नयों के सम्बन्ध मे चलाने का आग्रह किया। यह बात लिखते हुए मुझे गौरव का अनुभव हो रहा है कि उन्होंने मेरे आग्रह को स्वीकार कर अप्रेल, १९८० से आत्मधर्म में 'जिनवरस्य नयचक्रम्' नाम से यह लेखमाला आरम्भ की, जो आज तक चल रही है और आगे भी न जाने कब तक चलेगी।

उक्त लेखमाला का समाज में कल्पनातीत स्वागत हुआ। अधिक क्या लिखूं ? जब एकबार मुमुक्षु समाज के शिरमौर अध्यात्मिक प्रवक्ता पण्डित श्री लालचन्दभाई अमरचन्दजी मोदी, राजकोट ने मुझसे कहा कि मैं तो इस लेखमाला के पेजों को आत्मधर्म से निकालकर अलग फाइल बनाकर रखता हूँ, क्योंकि अलग-अलग अंकों मे

होने से सन्दर्भ टूट जाता है और बार-बार अध्ययन करने में असुविधा होती है; तब मुझे इसकी महिमा विशेष भासित हुई।

जब इसप्रकार के भाव अन्य भाइयों ने भी व्यक्त किये, तब इसे पुस्तकाकार प्रकाशित करने की भावना जागृत हुई। यद्यपि डॉ० भारिल्लजी द्वारा लिखित अब तक जितनी भी लेखमालायें आत्मधर्म के सम्पादकीयों के रूप में चलाई गई हैं, वे सभी अनेक भाषाओं में पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुकी हैं और समाज ने उन्हें हृदय से अपनाया है; अतः इसके भी पुस्तकाकार प्रकाशित करने की योजना तो थी ही, किन्तु यह कार्य लेखमाला के समाप्त होने पर ही सम्पन्न हो पाता।

जब सन् १९८० ई० के श्रावणमास में लगनेवाले सोनगढ़ शिविर में दूसरी बार भी इसी विषय को उत्तम कक्षा में उन्होंने चलाया, तब तक इसका बहुत कुछ अंश आत्मधर्म में प्रकाशित हो चुका था। इसकारण यह विषय बहुचर्चित हो गया था। यद्यपि पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी की तबियत ठीक नहीं थी, तथापि उनकी इच्छानुसार उनकी उपस्थिति में ही स्वाध्याय मन्दिर में यह कक्षा चली; जिसे उन्होंने भी मनोयोगपूर्वक सुना। अब तक मुमुक्षु बन्धुओं को भी इस विषय का पर्याप्त परिचय हो गया था। इस शिविर में १६०० आत्मार्थी मुमुक्षुभाई पधारे थे, जिनमे लगभग १५० वे विद्वान भी थे, जो सोनगढ़ की ओर से पर्यूषण पर्व के अवसर पर समाज मे प्रवचनार्थ जाते हैं और तत्वप्रचार की गतिविधियाँ संचालित करते हैं। उससमय उन सबमें नयो का प्रकरण चर्चा का मुख्य विषय बन गया था।

आत्मधर्म के सम्पादकीयों के रूप में इसके समाप्त होने में वर्षों की देरी देखकर एवं आत्मार्थी मुमुक्षु बन्धुओं की उत्सुकता को लक्ष्य में रखकर निश्चय-व्यवहार प्रकरण समाप्त होते ही इसे पूर्वार्द्ध के रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। फलस्वरूप प्रस्तुत कृति आपके हाथ में है।

नयों का विषय जिनवाणी में अचर्चित नहीं है। 'नयचक्र' नाम से भी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं और अन्य ग्रन्थो में भी प्रकरण के अनुसार यथास्थान नयो की चर्चा की गई है। नयों के कथन करनेवाले ग्रन्थों की जानकारी अन्त में दी गई 'सन्दर्भ ग्रन्थ सूची' से प्राप्त की जा सकती है।

नयो का स्वरूप जानने के लिए जब साधारण पाठक नयचक्रादि महान ग्रन्थो का अवलोकन करता है तो उनमें प्राप्त विविधता और विस्तार, विविध विवक्षाओं के कथन में इसप्रकार उलझने लगता है कि उसे यह नयचक्र इन्द्रजालसा प्रतीत होने लगता है और अध्ययनकाल मे समागत गुत्थियों को सुलझाने मे जब अपने को असमर्थ पाता है, तब या तो घबड़ाकर उसके अध्ययन से ही विरत हो जाता है या फिर यद्वा-तद्वा मिथ्याभिप्राय का पोषण करने लगता है। बहुत से लोग तो यह

कहकर कि 'यह तो विद्वानों की चीज है, इसमें हमें नहीं उलझना है', उपेक्षा कर देते हैं या फिर अनिर्णय के शिकार हो जाते हैं। इसप्रकार यह मानव जीवन यों ही व्यर्थ निकल जाता है और कुछ भी हाथ नहीं आ पाता है।

जिनागम में प्राप्त सभी ग्रन्थों का गहराई से अध्ययन कर, मनन कर तथा स्व० पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के सान्निध्य का पूरा-पूरा लाभ उठाकर डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने इस कमी को पूरा करने के लिए यह महान् ऐतिहासिक कार्य किया है, इसका मूल्यांकन हम क्या करें, इतिहास करेगा। इस ऐतिहासिक अमरकृति में उन्होंने नयग्रन्थों के अध्ययन में आनेवाली गुत्थियों को स्वयं उठा-उठाकर उनका समुचित समाधान प्रस्तुत किया है, विरोधी प्रतीत होनेवाले विभिन्न कथनों में सार्थक समन्वय स्थापित किया है; उनके मर्म को खोला है और उनका यथार्थ प्रयोजन स्पष्ट किया है। उनके इस अभूतपूर्व कार्य का वास्तविक आनन्द तो इसका गहराई से अध्ययन करनेवाले आत्मार्थी ही उठा सकते है।

आगम में नयो का प्रतिपादन दो प्रकार से उपलब्ध होता है; आगमिकनय और आध्यात्मिकनय। वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले आगमिक नयों का विषय छहों द्रव्य बनते हैं और आध्यात्मिक नयो का विषय मुख्यरूप से आत्मा ही होता है। दोनो की प्रतिपादन शैली में भी अन्तर है। दोनों ही शैलियों में नयों के बहुत कुछ नाम एकसे पाये जाने से भी भ्रम उत्पन्न होने की संभावनाएँ रहती हैं। इस अनूठे ग्रन्थ में डॉक्टर साहब ने दोनों शैलियों का अन्तर बहुत अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है तथा यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अन्ततोगत्वा सबका प्रयोजन तो एक मात्र एकत्व-विभक्त आत्मा को प्राप्त करना ही है, जिसके आश्रय से वीतरागतारूप धर्म की उत्पत्ति होती है और अनन्त सुख-शान्ति की प्राप्ति होती है।

इस ग्रन्थ की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें नय कथनों के अध्ययन में आनेवाली गुत्थियों को प्रतिदिन काम आने वाले रोचक उदाहरणों से सरल करके समझाया गया है। कई उदाहरण तो सांगरूपक जैसे लगते हैं।

आत्मार्थी समाज पर सर्वाधिक उपकार तो पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का है, जिनके उपदेशों के माध्यम से समाज मे अध्ययन-मनन की रुचि जागृत हुई है। गुरुदेवश्री ने जिनवाणी के गूढ़ से गूढ़ मर्म को सरल से सरल भाषा में उजागर कर दिया है। उसी का फल है कि डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल जैसे अनेक विद्वान् तैयार हो गये हैं, जिनके द्वारा सुसुप्त जैनधर्म एक बार फिर जागृत होकर जन-जन की चीज बन गया है।

अधिक क्या लिखूं ? सम्पूर्ण ग्रन्थ एक बार नहीं, अनेक बार मूलतः पठनीय है। इस अद्वितीय ग्रन्थ के प्रणयन के लिए डॉ० भारिल्लजी को हार्दिक बधाई देते हुए तत्त्वप्रेमी पाठको से इसका गहराई से अध्ययन करने का अनुरोध करता हूँ। इसका व्यक्तिगत स्वाध्याय तो किया ही जाना चाहिए, सामूहिक स्वाध्याय में भी इसका पाठन-पाठन होना चाहिए। तथा विश्वविद्यालयीन जैनदर्शन के पाठ्यक्रम एवं समाज द्वारा संचालित परीक्षा बोर्डों के पाठ्यक्रमों में भी इसे सम्मिलित किया जाना चाहिए।

इसके सुन्दर, शुद्ध एवं आकर्षक मुद्रण के लिए श्री सोहनलालजी जैन एवं श्री राजमलजी जैन, जयपुर प्रिन्टर्सवाले हार्दिक बधाई के पात्र हैं। साथ ही इस पुस्तक की कीमत कम करनेवाले दातारो को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, जिनके नाम इसप्रकार है :—

श्री जम्बूप्रसादजी अभिनन्दनप्रसादजी जैन, सहारनपुर (उ. प्र.)	५०००)
श्री केशरीमलजी गंगवाल C/o छीतरमलजी पारसकुमारजी, बूंदी (राज.)	८०१)
श्री पं० अभयकुमारजी शास्त्री जबलपुरवाले, जयपुर	५४०)
श्री दि० जैन मुमुक्षु मण्डल, रांझी, जबलपुर (म० प्र०)	१५१)
ब्र० श्री विमलाबेन, बम्बई (महा०)	१०१)
श्री मदनराजजी छाजेड़, शास्त्रीनगर, जोधपुर (राज०)	१०१)
श्री रेशमचंदजी जैन सर्राफ, ग्वालियर (म० प्र०)	१०१)
श्री प्रकाशचंदजी शाह, जयपुर	१०१)
श्री ताराचंदजी झांझरी, जयपुर	२१)
कुल	६९१७)

नेमीचंद पाटनी

मंत्री, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

अपनी बात

यद्यपि जिनागम अगाध है; तथापि जिसप्रकार अगाध सागर में भी तैरना जाननेवाले प्राणियों का प्रवेश निर्बाध हो सकता है, होता है। उसीप्रकार नयों का सम्यक् स्वरूप जाननेवाले आत्मार्थियों का भी जिनागम में प्रवेश संभव है, सहज है। तथा जिसप्रकार जो प्राणी तैरना नहीं जानता है, उसका मरण छोटे से पोखर में भी हो सकता है, तरणताल (Swimming-Pool) में भी हो सकता है; उसीप्रकार नयज्ञान से अनभिज्ञ जन जैन तत्त्वज्ञान का प्रारम्भिक ज्ञान देनेवाली बालबोध पाठमालाओं के भी मर्म तक नहीं पहुँच सकते, अर्थ का अनर्थ भी कर सकते हैं।

इस बात का परिज्ञान मुझे तब हुआ, जब पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक समयसार आदि ग्रन्थों पर किये गये प्रवचन सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ तथा आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी द्वारा रचित मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अध्याय का गहराई से अध्ययन किया।

जिनागम और जिन-अध्यात्म का मर्म समझने के लिए नयज्ञान की उपयोगिता एवं आवश्यकता की महिमा जागृत होने के बाद स्वयं तो तद्विषयक गहरा अध्ययन मनन-चिन्तन किया ही, साथ ही इस विषय पर प्रवचन भी खूब किए।

इसी बीच एक समय ऐसा भी आया जब पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा संचालित आध्यात्मिक क्रान्ति एवं उसका विरोध अपने चरम-बिन्दु पर था। विरोध का स्तर बहुत ही नीचे उतर आने से समाज में सर्वत्र उत्तेजना का वातावरण था। गोहाटी, नैनवा और ललितपुर काण्डों ने समाज को झकझोर दिया था।

इन सबके कारणों की जब गहराई से खोज की गई तो अन्य अनेक कारणों के साथ-साथ यह भी प्रतीत हुआ कि समाज और समाज के विद्वानो में नयों के सम्यक्ज्ञान की कमी भी इसमे एक कारण है।

इस कमी की पूर्ति हेतु शिक्षण शिविरों, शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों की शृंखला में प्रवचनकार प्रशिक्षण-शिविर की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी और भी जुड़ गई। फलस्वरूप १९७७ से सोनगढ़ में प्रवचनकार प्रशिक्षण-शिविर आरम्भ हुए, जिनमें मुझे नय-प्रकरणों को विस्तार से समझाने का सुअवसर प्राप्त हुआ। बाद में 'नयचक्र' ग्रंथ के आधार पर नयो का गहराई से अध्ययन-अध्यापन १९७९ के शिविर में हुआ।

इससे पूर्व ही हिन्दी आत्मधर्म के सम्पादन का कार्य मेरे पास आ चुका था। जिसमे लगातार निकलनेवाले सम्पादकीयों ने समाज में अपना एक विशेष स्थान बना लिया था। आदरणीय पाटनीजी ने तो मुझसे आत्मधर्म के सम्पादकीयों में नयों पर लेखमाला चलाने का अनुरोध किया ही, सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्दजी वाराणसी का भी एक पत्र मुझे प्राप्त हुआ, जिसमे उन्होंने मुझे आत्मधर्म के

सम्पादकीयों में 'दशधर्मों' के समान नय प्रकरणों पर सरल सुबोध भाषा में लिखने का आग्रह किया था; पर चाहते हुए भी जब तक 'धर्म के दशलक्षण' और 'क्रमबद्धपर्याय' के प्रकरण समाप्त नहीं हुए तब तक यह कार्य आरम्भ न हो सका।

इस बीच नयों सम्बन्धी मेरा अध्ययन-मनन चालू रहा, पर इस विषय की विशालता और गम्भीरता को देखते हुए जब-जब इस पर कलम चलाने का विचार किया, तब-तब अनेकों सकल्प-विकल्प सामने आये, टूटी-फूटी नाव से सागर पार करने जैसा दुस्साहस लगा।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का वरदहस्त और मंगल आशीर्वाद ही मुझे इस महान् कार्य मे प्रवृत्त कर सका है। क्योंकि इसके आरम्भ का काल भी वही है, जबकि पूज्य गुरुदेवश्री 'क्रमबद्धपर्याय' और 'धर्म के दशलक्षण' की दिन-रात प्रशंसा कर रहे थे, लोगो को उनका स्वाध्याय करने के लिए प्रेरित कर रहे थे। फरवरी, १९८० मे सम्पन्न बड़ौदा पंचकल्याणक के अवसर पर बीच प्रवचन मे जब उन्होने मुझे सभा मे से उठाकर अपने पास बुलाया, पीठ ठोकी और अपने पास ही बिठा लिया तथा अनेक-अनेक प्रकार से सम्बोधित किया, उत्साहित किया तो मुझमे वह शक्ति जागृत हो गई कि घर आते ही मैने 'जिनवरस्य नयचक्रम्' लिखना आरंभ कर दिया और अप्रेल, १९८० के अक से आत्मधर्म मे भी इसे आरंभ कर दिया।

आज उनके अभाव मे उनके ९३वें पावन जन्म-दिवस पर इसे पुस्तकाकार प्रकाशित होते देख हृदय भर आता है और विचार आता है कि उनके विरह में अब कौन पीठ थप-थपायेगा, कौन शाबासी देगा और कौन जन-जन को इसे पढ़ने की प्रेरणा देगा ?

आदरणीय विद्वद्वर्य पंडित श्री लालचन्दजी भाई ने भी एकबार मुझसे आचार्य देवसेन के 'श्रुतभवनदीपक नयचक्र' के एक अश का अनुवाद करवाया, क्योंकि उन्हें प्राप्त अनुवाद मे सन्तोष न था। जब मैंने उन्हें अनुवाद करके दिया तो उसे पढ़कर वे एकदम गद्गद् हो गये। उन दो पृष्ठो को वे वर्षों संभाल कर रखे रहे तथा जब-तब ग्रंथ का पूरा अनुवाद करने की प्रेरणा भी निरन्तर देते रहे। पर मेरी इच्छा तो नयों के सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत करने की थी। यद्यपि मैं उनकी उस आज्ञा की पूर्ति नही कर सका, तथापि इसके प्रणयन मे उनकी प्रेरणा एवं उत्साह-वर्धन ने भी संबल प्रदान किया है।

मेरी एक प्रवृत्ति है कि जब-जब मैं किसी विशेष विषय पर लिख रहा होता हूँ, तो मेरे दैनिक प्रवचनों मे वे विषय बलात् आ ही जाते हैं तथा जब-जब जो भी लिखा जाता रहा, वह अपने प्रतिभाशाली छात्रों को पहिले से सुनाता रहा हूँ, उनसे मंथन भी करता रहा हूँ। इसीप्रकार प्रवचनार्थ बाहर जाने पर भी मैं उस विषय पर कुछ प्रवचन अवश्य करता हूँ, जो विषय मेरे लेखन में चल रहा होता है।

इससे अपने श्रोताओं को ताजा और नया चिन्तन तो देता ही हूँ, उनके द्वारा प्राप्त प्रश्नों के माध्यम से लेखनी में विषय भी इसप्रकार स्पष्ट होता चला जाता है, जिससे सर्व साधारण उसे ग्रहण कर सकें। इसप्रकार विषय की सरलता और सहजता में मेरे प्रतिभाशाली छात्रों एवं श्रोताओं का भी बहुत बड़ा योगदान है, परन्तु उनका नामोल्लेख करना न तो मुझे उचित ही प्रतीत होता है और न सम्भव ही है।

आत्मधर्म में निरन्तर प्रकाशित होने से आत्मधर्म के माध्यम से गम्भीर पाठकों का सहयोग तथा मन्तव्य प्राप्त होता रहता है, जिससे आगे विषय के विशेष स्पष्टीकरण में सहायता मिलती रही है।

इसप्रकार यह 'जिनवरस्य नयचक्रम्' का पूर्वार्द्ध प्रस्तुत है। अभी उत्तरार्द्ध शेष है, जिसमें द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, नैगमादि नय तथा प्रवचनसार के ४७ नय आदि का विश्लेषण एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना है।

इसे सर्वाङ्गीण बनाने हेतु आत्मधर्म के मार्च, १९८२ के अंक में एक विज्ञप्ति भी निकाली गई थी। जो कि इसप्रकार है :–

"जिनवरस्य नयचक्रम् नाम से सम्पादकीय लेखमाला की आप अब तक सत्तरह किश्तें पढ़ चुके हैं। इस लेखमाला का पूर्वार्द्ध समाप्ति की ओर है तथा वह शीघ्र ही पुस्तकाकार भी प्रकाशित होने जा रही है। हम चाहते हैं कि विषय का प्रतिपादन सर्वाङ्गीण हो, उसमें किसी भी प्रकार की विषय संबंधी कोई कमी न रह जाय; तदर्थ प्रबुद्ध पाठकों का सहयोग अपेक्षित है। अतः प्रबुद्ध पाठकों से यह विनम्र अनुरोध है कि वे अब तक प्रकाशित विषयवस्तु का एक बार गम्भीरता से पुनरावलोकन करें। यदि कहीं कोई स्खलन, अपूर्णता या विरोधाभास प्रतीत हो अथवा कोई ऐसा प्रश्न, शंका या आशंका शेष रह जाती हो, जिसका समाधान अपेक्षित हो तो तत्काल यहाँ सूचित करें; जिससे उनके अनुभव का लाभ उठाकर कृति को सर्वाङ्गीण बनाया जा सके।"

– उपर्युक्त अनुरोध भी निष्फल नहीं गया। पाठकों के अनेक पत्र प्राप्त हुए, जिनसे इस विषय में उनकी गहरी रुचि और अध्ययन का पता तो चला ही, साथ ही ऐसे बिन्दु भी ध्यान में आये जिनका स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक था।

इसके नामकरण के सम्बन्ध में भी मुझे एक बात कहनी है कि यह नयचक्र जिनेन्द्र भगवान का है, इसमें मेरा कुछ भी नहीं है। यह सोचकर ही इसका नाम 'जिनवरस्य नयचक्रम्' रखा है। दूसरी बात यह है कि यह ग्रन्थ तो हिन्दी भाषा में है और नाम है संस्कृत में – इस सन्दर्भ में भी मैंने बहुत विचार किया, पर आचार्य अमृतचन्द्र के श्लोक[1] का 'जिनवरस्य नयचक्रम्' – यह अंश मेरे मन को इतना भाया

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५९

कि वह इसे छोड़ने को तैयार नहीं हुआ। अन्तर की अज्ञात प्रेरणा ही इसके मूल में रही है, इसमें मेरी बुद्धि की एक भी नहीं चली है। तदर्थ विज्ञों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

दुरूह विषयवस्तु का प्रतिपादन यदि बिना शीर्षकों के किया जाय तो वह पाठकों में ऊब पैदा करता है तथा पद-पद पर आने वाले शीर्षक प्रतिपादन प्रवाह को खण्डित करते हैं। इस बात का ध्यान रखकर 'जिनवरस्य नयचक्रम्' में मध्यम शैली का प्रयोग किया गया है। सम्पूर्ण विषय-वस्तु को शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित तो किया गया है, किन्तु उपशीर्षकों को स्थान नहीं दिया गया है। बीच-बीच में आनेवाले शीर्षक अध्यायों का काम करते हैं, जो पाठकों को यथास्थान चिन्तन करने के लिए समय प्रदान करते हैं और विश्राम लेने के लिए पड़ाव का काम करते हैं। यद्यपि अध्ययन के मार्ग में उपशीर्षक का भी उपयोग है, अध्ययन करते समय महत्वपूर्ण विषय-वस्तु कहीं छूट न जाय, इसके लिए वे गतिरोधक का काम करते हैं, तथापि ऐसा भी तो है कि पग-पग पर आने वाले बड़े-बड़े गतिरोधक भी अटकाव पैदा करते हैं, चालक में चिड़चिड़ापन पैदा करते है। दुर्घटनाओं को रोकने के लिए बने हुए बड़े-बड़े गतिरोधक कहीं-कहीं दुर्घटनाओं के हेतु भी बनते देखे जाते हैं। अतः यहाँ पैराग्राफों के परिवर्तन से ही गतिरोधकों का काम लिया गया है। शीर्षक तो रखे गये हैं, पर उपशीर्षक नहीं।

महत्वपूर्ण शीर्षकों के अन्तर्गत प्रतिपादित विषयवस्तु के सन्दर्भ में उठने वाले प्रश्नों, शंकाओं व आशंकाओं के समाधान के लिए प्रश्नोत्तरों के शीर्षक भी बनाये गये हैं। इसप्रकार इस पूर्वार्द्ध में ही कुल ४६ प्रश्नोत्तर भी आ गये हैं, जो विषयवस्तु की दुरूहता को कम करने में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान करते हैं।

जिनागम के जिन महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अवगाहन इस ग्रन्थ के प्रणयन में सहयोगी हुआ है, उनमें से जिनका प्रत्यक्ष उपयोग हुआ है, उनका तो उल्लेख संदर्भ ग्रन्थ सूची में हो गया है, तथापि ऐसे भी अनेक ग्रन्थराज हैं, जिनका उपयोग प्रत्यक्ष रूप से न होने के कारण उल्लेख संभव नहीं हो पाया है, पर उनका परोक्ष सहयोग अवश्य हुआ है। तदर्थ सभी के प्रति श्रद्धावनत हूँ।

यदि इस कृति के अध्ययन से आपको कुछ मिले तो आपसे अनुरोध है कि अपने प्रियजनों को भी वंचित न रखें। यदि एक भी पाठक ने इससे जिनवाणी का मर्म समझने का मार्ग प्राप्त कर लिया तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा।

जिनवर की बात जन-जन तक पहुँचे और समस्त जन निज को समझकर कृतार्थ हों – इस पावन भावना के साथ अपनी बात से विराम लेता हूँ।

– (डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल

जिनवरस्य नयचक्रम्

मंगलाचरण

जो एक शुद्ध विकारवर्जित,
अचल परम पदार्थ है।
जो एक ज्ञायकभाव निर्मल,
नित्य निज परमार्थ है॥
जिसके दरश व जानने,
का नाम दर्शन ज्ञान है।
हो नमन उस परमार्थ को,
जिसमें चरण ही ध्यान है॥ १॥

निज आत्मा को जानकर,
पहिचानकर जमकर अभी।
जो बन गये परमात्मा,
पर्याय में भी वे सभी॥
वे साध्य हैं, आराध्य हैं,
आराधना के सार हैं।
हो नमन उन जिनदेव को,
जो भवजलधि के पार हैं॥ २॥

भवचक्र से जो भव्यजन को,
सदा पार उतारती।
जगजालमय एकान्त को,
जो रही सदा नकारती॥
निजतत्त्व को पाकर भविक,
जिसकी उतारें आरती।
नयचक्रमय उपलब्ध नित,
यह नित्यबोधक भारती॥ ३॥

नयचक्र के संचार में,
जो चतुर हैं, प्रतिबुद्ध हैं।
भवचक्र के संहार में,
जो प्रतिसमय सन्नद्ध हैं॥
निज आत्मा की साधना में,
निरत तन मन नगन हैं।
भव्यजन के शरण जिनके,
चरण उनको नमन है॥ ४॥

कर कर नमन निजभाव को,
जिन जिनगुरु जिनवचन को।
निजभाव निर्मलकरन को,
जिनवरकथित नयचक्र को॥
निजबुद्धिबल अनुसार,
प्रस्तुत कर रहा हूँ विज्ञजन!
ध्यान रखना चाहिए,
यदि हो कहीं कुछ स्खलन॥ ५॥

जिनवरस्य नयचक्रम्

नयज्ञान की आवश्यकता

जिनागम के मर्म को समझने के लिए नयों का स्वरूप समझना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है; क्योंकि समस्त जिनागम नयों की भाषा में ही निबद्ध है। नयों को समझे बिना जिनागम का मर्म जान पाना तो बहुत दूर, उसमें प्रवेश भी संभव नहीं है।

जिनागम के अभ्यास (पठन-पाठन) में सम्पूर्ण जीवन लगा देने वाले विद्वज्जन भी नयों के सम्यक् प्रयोग से अपरिचित होने के कारण जब जिनागम के मर्म तक नहीं पहुँच पाते तब सामान्यजन की तो बात ही क्या करना ?

'धवला' में कहा है :–

"णत्थि णएहि विहूणं सुत्तं अत्थोव्व जिणवरमदम्हि ।
तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति ।।[1]

जिनेन्द्र भगवान के मत में नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिए जो मुनि नयवाद में निपुण होते हैं, वे सच्चे सिद्धान्त के ज्ञाता समझने चाहिए।"

'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' में भी कहा है :–

"जे णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थूसहावउवलद्धि ।
वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कहं हुंति ।।१८१।।

जो व्यक्ति नयदृष्टि से विहीन हैं, उन्हें वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान नहीं हो सकता। और वस्तु के स्वरूप को नहीं जानने वाले सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं ?"

---

[1] धवला पु० १, खण्ड १, भाग १, गाथा ६८ [जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश भाग २, पृष्ठ ५१८]

अनादिकालीन मिथ्यात्व की ग्रंथि का भेदन आत्मानुभवन के बिना संभव नहीं है, और आत्मानुभवन आत्मपरिज्ञानपूर्वक होता है। अनन्त-धर्मात्मक अर्थात् अनेकान्तस्वरूप आत्मा का सम्यक्ज्ञान नयों के द्वारा ही होता है। अनेकान्त को नयमूलक कहा गया है।[1] अतः यह निश्चित है कि मिथ्यात्व की ग्रंथि का भेदन चतुराई से चलाये गए नयचक्र से ही संभव है।

नयों की चर्चा को ही सब झगड़ों की जड़ कहनेवालों को उक्त आगम-वचनों पर ध्यान देना चाहिए। नयों का सम्यक्ज्ञान तो बहुत दूर, नयों की चर्चा से भी अरुचि रखने वाले कुछ लोग यह कहते कहीं भी मिल जावेंगे कि "समाज में पहिले तो कोई झगड़ा नहीं था, सब लोग शांति से रहते थे, पर जब से निश्चय-व्यवहार का नया चक्कर चला है, तब से ही गाँव-गाँव में झगड़े आरंभ हो गए हैं।"

ये लोग जानबूझकर 'नयचक्र' को 'नया चक्कर' कहकर मजाक उड़ाते हैं, समाज को भड़काते हैं।

जहाँ एक ओर कुछ लोग नयज्ञान का ही विरोध करते दिखाई देते हैं, वहाँ दूसरी ओर भी कुछ लोग नयों के स्वरूप और प्रयोगविधि में परिपक्वता प्राप्त किये बिना ही उनका यद्वा-तद्वा प्रयोग कर समाज के वातावरण को अनजाने ही दूषित कर रहे हैं।

उन्हें भी इस ओर ध्यान देना चाहिए कि आचार्य अमृतचंद्र ने जिनेन्द्र भगवान के नयचक्र को अत्यन्त तीक्ष्णधारवाला और दुःसाध्य कहा है।[2] पर ध्यान रखने की बात यह है कि दुःसाध्य कहा है, असाध्य नहीं। अतः निराश होने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु सावधानीपूर्वक समझने की आवश्यकता अवश्य है; क्योंकि वह नयचक्र अत्यन्त ही तीक्ष्ण धारवाला है। यदि उसका सही प्रयोग करना नहीं आया तो लाभ के स्थान पर हानि भी हो सकती है।

---

[1] जह सत्थाणं माई सम्मत्तं जह तवाइगुणणिलए।
धाउवाए रसो तह णयमूलं अणेयंते॥

जैसे शास्त्रों का मूल अकारादि वर्ण हैं, तप आदि गुणों के भंडार साधु में सम्यक्त्व है, धातुवाद में पारा है; वैसे ही अनेकान्त का मूल नय है।

— द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १७५

[2] अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्। — पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५९

'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' के ५९वें श्लोक की टीका के भावार्थ में सचेत करते हुए आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी लिखते हैं :–

"जैनमत का नयभेद समझना अत्यन्त कठिन है, जो कोई मूढ़ पुरुष बिना समझे नयचक्र में प्रवेश करता है वह लाभ के बदले हानि उठाता है।"

वीतरागी जिनधर्म के मर्म को समझने के लिए नयचक्र में प्रवेश अर्थात् नयों का सही स्वरूप समझना अत्यन्त आवश्यक है; उनके प्रयोग की विधि से मात्र परिचित होना ही आवश्यक नहीं, अपितु उसमें कुशलता प्राप्त करना जरूरी है।

जिसप्रकार अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाली तलवार से बालकवत् खेलना खतरे से खाली नहीं है; उसीप्रकार अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाले नयचक्र का यद्वा-तद्वा प्रयोग भी कम खतरनाक नहीं है। जिसप्रकार यदि तलवार चलाना सीखना है तो सुयोग्य गुरु के निर्देशन में विधिपूर्वक सावधानी से सीखना चाहिए; उसीप्रकार नयों की प्रयोगविधि में कुशलता प्राप्त करने के लिए भी नयचक्र के संचालन में चतुर गुरु ही शरण हैं।

कहा भी है :–

गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः।[1]

क्योंकि :–

"मुख्योपचार विवरण निरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधा
व्यवहार-निश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्।[2]

मुख्य और उपचार कथन से शिष्यों के दुर्निवार अज्ञानभाव को नष्ट कर दिया है जिन्होंने और जो निश्चय-व्यवहार नयों के विशेषज्ञ हैं, वे गुरु ही जगत में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।"

जिनोदित नयचक्र की विस्तृत चर्चा करने के पूर्व सभी पक्षों से मेरा हार्दिक अनुरोध है कि अरे भाई! जैनदर्शन की इस अद्भुत कथन-शैली को चक्कर मत कहो, यह तो संसारचक्र से निकालने वाला अनुपम चक्र है। इसे समझने का सही प्रयत्न करो, इसे समझे बिना संसार के दुःखों से बचने का कोई उपाय नहीं है। इसे मजाक की वस्तु मत बनाओ,

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५८

[2] वही, श्लोक ४

सामाजिक राजनीति में भी इस गंभीर विषय को मत घसीटो। इसका यद्वा-तद्वा प्रयोग भी मत करो, इसे समझो, इसकी प्रयोगविधि में कुशलता प्राप्त करो – इसमें ही सार है और सब तो संसार है व संसार-परिभ्रमण का ही साधन है।

नयों के स्वरूपकथन की आवश्यकता और उपयोगिता प्रतिपादित करते हुए आचार्य देवसेन लिखते हैं :–

"यद्यप्यात्मा स्वभावेन नयपक्षातीतस्तथापि स तेन बिना तथाविधो न भवितुमर्हत्यनादिकर्मवशादसत्कल्पनात्मकत्वादतो नयलक्षणमुच्यते ॥[1]

यद्यपि आत्मा स्वभाव से नयपक्षातीत है, तथापि वह आत्मा नयज्ञान के बिना पर्याय में नयपक्षातीत होने में समर्थ नहीं है, अर्थात् विकल्पात्मक नयज्ञान के बिना निर्विल्पक (नयपक्षातीत) आत्मानुभूति संभव नहीं है, क्योंकि अनादिकालीन कर्मवश से यह असत्कल्पनाओं में उलझा हुआ है। अतः सत्कल्पनारूप अर्थात् सम्यक् विकल्पात्मक नयों का स्वरूप कहते हैं।"

नयों के स्वरूप को जानने की प्रेरणा देते हुए माइल्लधवल लिखते हैं :–

"जइ इच्छह उत्तरिदुं अण्णाणमहोवहिं सुलीलाए।
ता णादुं कुणह मइं णयचक्के दुणयतिमिरमत्तण्डे ॥[2]

यदि लीला मात्र से अज्ञानरूपी समुद्र को पार करने की इच्छा है तो दुर्नयरूपी अंधकार के लिए सूर्य के समान नयचक्र को जानने में अपनी बुद्धि को लगाओ।"

क्योंकि :–

"लवणं व इणं भणियं णयचक्कं सयलसत्थसुद्धियरं।
सम्मा वि य सुय मिच्छा जीवाणं सुणयमग्गरहियाणं ॥[3]

जैसे नमक सब व्यंजनों को शुद्ध कर देता है, सुस्वाद बना देता है; वैसे ही समस्त शास्त्रों की शुद्धि का कर्ता इस नयचक्र को कहा है। सुनय के ज्ञान से रहित जीवों के लिए सम्यक्श्रुत भी मिथ्या हो जाता है।"

---

[1] श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ २९

[2] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा ४१६

[3] वही, गाथा ४१७

नय का सामान्य स्वरूप

स्याद्पद से मुद्रित परमागमरूप श्रुतज्ञान के भेद नय हैं। यद्यपि श्रुतज्ञान एक प्रमाण है तथापि उसके भेद नय हैं। इसी कारण श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहा गया है। ज्ञाता के अभिप्राय को भी नय कहा जाता है। प्रमाण सर्वग्राही होता है और नय अंशग्राही; तथा नय प्रमाण द्वारा प्रकाशित पदार्थ के एक अंश को अपना विषय बनाता है।

'आलापपद्धति' में नय का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया गया है :–

"प्रमाणेन वस्तुसंग्रहीतार्थैकांशो नयः श्रुतविकल्पो वा, ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः। नाना स्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्रापयतीति वा नयः।

प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने का नाम नय है अथवा श्रुतज्ञान का विकल्प नय है अथवा ज्ञाता का अभिप्राय नय है अथवा नाना स्वभावों से वस्तु को पृथक् करके जो एकस्वभाव में वस्तु को स्थापित करता है, वह नय है।"

अनन्त धर्मात्मक होने से वस्तु बड़ी जटिल है। उसको जाना जा सकता है, पर कहना कठिन है। अतः उसके एक-एक धर्म का क्रमपूर्वक निरूपण किया जाता है। कौन धर्म पहिले और कौन धर्म बाद में कहा जाय – इसका कोई नियम नहीं है।

अतः ज्ञानी वक्ता अपने अभिप्रायानुसार जब एक धर्म का कथन करता है तब कथन में वह धर्म मुख्य और अन्य धर्म गौण रहते हैं।

इस अपेक्षा से ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा जाता है।

'तिलोयपण्णत्ति' में कहा है :–

"णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स हिदियभावत्थो।[1] मन इन्द्रि

सम्यग्ज्ञान को प्रमाण और ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा जाता है।"

कहीं-कहीं वक्ता के अभिप्राय को नय कहा गया है।[2]

[1] तिलोयपण्णत्ति, अ० १, गाथा ८३

[2] स्याद्वादमंजरी, श्लोक २८ की टीका

मुख्य धर्म को विवक्षित धर्म और गौण धर्म को अविवक्षित धर्म कहते हैं। पर ध्यान रहे नयों के कथन में अविवक्षित धर्मों की गौणता ही अपेक्षित है, निषेध नहीं। निषेध अपेक्षित होने पर वह नय नहीं रह पावेगा, नयाभास हो जावेगा।

'प्रमेयकमलमार्तण्ड' में नय की परिभाषा में 'अनिराकृत प्रतिपक्ष' विशेषण डालकर 'गौण' शब्द का भाव अत्यन्त सफलतापूर्वक स्पष्ट कर दिया गया है। आशय यह है कि जिन धर्मों को प्रतिपक्ष मानकर गौण किया गया है उनका निराकरण नहीं किया गया है, अपितु उनके संबंध में मौन रखा गया है। उनका विधि-निषेध कुछ भी नहीं किया गया है, उनके बारे में चुप्पी ही गौणता का रूप है।

मार्तण्डकार की परिभाषा इस प्रकार है :–

"अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः।[1]

प्रतिपक्षी धर्मों का निराकरण न करते हुए वस्तु के अंश को ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय नय है।"

यह मुख्यता और गौणता वस्तु में विद्यमान धर्मों की अपेक्षा नहीं, अपितु वक्ता की इच्छानुसार होती है। विवक्षा-अविवक्षा, वाणी के भेद हैं, वस्तु के नहीं। वस्तु में तो सभी धर्म प्रतिसमय अपनी पूर्ण हैसियत से विद्यमान रहते हैं, उनमें मुख्य-गौण का कोई प्रश्न ही नहीं है – क्योंकि वस्तु में तो अनन्त गुणों को ही नहीं, परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले अनन्त धर्म-युगलों को भी अपने में धारण करने की शक्ति है। वे तो वस्तु में अनादिकाल से हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे भी। उनको एक साथ कहने की सामर्थ्य वाणी में न होने के कारण वाणी में विवक्षा-अविवक्षा और मुख्य-गौण का भेद पाया जाता है।

इस कारण ही वक्ता के अभिप्राय को नय कहा गया है।

नय ज्ञानात्मक भी होते हैं और वचनात्मक भी। जहाँ ज्ञानात्मक नय अपेक्षित हों वहाँ ज्ञाता के अभिप्राय को, और जहाँ वचनात्मक नय अपेक्षित हों वहाँ वक्ता के अभिप्राय को नय कहा जाता है।

तथा नय सम्यक्श्रुतज्ञान के भेद होने से उनका वक्ता भी ज्ञानी होना आवश्यक है। अतः ज्ञानी वक्ता के अभिप्राय को नय कहा जाता है। इसलिए चाहे ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहो, चाहे वक्ता के अभिप्राय को नय कहो – एक ही बात है।

---

[1] प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ ६७६

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब नय श्रुतज्ञान के भेद हैं तो फिर वे वचनात्मक कैसे हो सकते हैं ?

श्रुत को भी द्रव्यश्रुत और भावश्रुत के भेद से दो प्रकार का माना गया है। आचार्य समन्तभद्र ने श्रुतज्ञान को स्याद्वाद शब्द से भी अभिहित किया है।[1]

मति आदि पाँच ज्ञानों में नय श्रुतज्ञान में और प्रत्यक्ष, स्मृति आदि प्रमाणों में आगमप्रमाण में आते हैं। आगम को द्रव्यश्रुत भी कहते हैं।

द्रव्यश्रुत और भावश्रुत के समान नयों के भी द्रव्यनय और भावनय – ऐसे दो भेद किये गए हैं।

पंचाध्यायीकार लिखते हैं :–

"द्रव्यनयो भावनयः स्यादिति भेदाद् द्विधा च सोऽपि यथा।
पौद्गलिकः किल शब्दो द्रव्यं भावश्च चिदिति जीव गुणः ॥[2]

यह नय द्रव्यनय और भावनय के भेद से दो प्रकार का है। पौद्गलिक शब्द द्रव्यनय हैं और जीव का चैतन्यगुण भावनय है।"

अतः नयों के वचनात्मक होने में कोई विरोध नहीं है।

न्यायशास्त्र के प्रतिष्ठापक आचार्य अकलंकदेव नय को प्रमाण से प्रकाशित पदार्थ को प्रकाशित करने वाला बताते हैं :–

"प्रमाणप्रकाशितार्थ विशेषप्ररूपको नयः।[3]

प्रमाण द्वारा प्रकाशित पदार्थ का विशेष निरूपण करनेवाला नय है।"

नयचक्रकार माइल्लधवल भी लिखते हैं :–

"णाणासहावभरियं वत्थु गहिऊण तं पमाणेण।
एयंतणासणट्ठं पच्छा णयजुंजणं कुणह ॥[4]

अनेक स्वभावों से परिपूर्ण वस्तु को प्रमाण के द्वारा ग्रहण करके तत्पश्चात् एकान्तवाद का नाश करने के लिए नयों की योजना करनी चाहिए।"

धवलाकार तो नयों की उत्पत्ति ही प्रमाण से मानते हैं। अपनी बात सिद्ध करते हुये वे लिखते हैं :–

---

[1] आप्तमीमांसा, श्लोक १०५
[2] पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध, श्लोक ५०५
[3] तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ० १, सूत्र ३३
[4] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १७२

"पमाणादो णयाणमुप्पत्ती,
अणवगयट्ठे गुणप्पहाणभावाहिप्पायाणुप्पत्तीदो ।[1]

प्रमाण से नयों की उत्पत्ति होती है, क्योंकि वस्तु के अज्ञात होने पर, उसमें गौणता और मुख्यता का अभिप्राय नहीं बनता ।"

'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' में नय की परिभाषा इसप्रकार दी गई है :–

"जं णाणीण वियप्पं सुवासयं वत्थुअंस संगहणं ।
तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेण णाणेण ।।१७३।।

श्रुतज्ञान का आश्रय लिये हुए ज्ञानी का जो विकल्प वस्तु के अंश को ग्रहण करता है, उसे नय कहते हैं । और उस ज्ञान से जो युक्त होता है, वह ज्ञानी है ।"

अन्य बातें सामान्य होने पर भी इसमें यह विशेषता है कि एक ओर तो ज्ञानी के विकल्प को नय कहा गया है और दूसरी ओर नय-ज्ञान से युक्त आत्मा को ज्ञानी माना गया है ।

इसका मूलभाव यही प्रतीत होता है कि वे इस बात पर बल देना चाहते हैं कि सम्यक्नय ही नय हैं और वह नय ज्ञानी के ही होते हैं, अज्ञानी के नहीं । अज्ञानी के नय नय नहीं, नयाभास हैं ।

यद्यपि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, तथापि नय उसके किसी एक धर्म को ही अपना विषय बनाता है । जिस धर्म को वह विषय बनाता है, वह मुख्य और अन्य धर्म गौण रहते हैं ।

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में स्पष्ट लिखा है :–

"णाणाधम्मजुदं पि य एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं ।
तस्सेय विवक्खादो णत्थि विवक्खा हु सेसाणं ।।[2]

यद्यपि पदार्थ नाना धर्मों से युक्त होता है तथापि नय उसके एक धर्म को ही कहता है, क्योंकि उस समय उस धर्म की ही विवक्षा रहती है, शेष धर्मों की नहीं ।"

वस्तु में अनन्त धर्म ही नहीं, अपितु परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनन्त धर्म-युगल भी हैं । परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले दो धर्मों में से

---

[1] धवला पु० ६, खण्ड ४, भाग १, सूत्र ४७, पृष्ठ २४० [जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ ५२५]

[2] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६४

एक धर्म को ही नय विषय करता है – इस तथ्य को ध्यान में रखकर पंचाध्यायीकार नय की चर्चा इसप्रकार करते हैं :–

> "इत्युक्तलक्षणेऽस्मिन् विरुद्धधर्मद्वयात्मके तत्त्वे ।
> तत्राप्यन्यतरस्य स्यादिह धर्मस्य वाचकश्च नयः ।।[1]

जिसका लक्षण कहा गया है ऐसे दो विरुद्ध धर्मवाले तत्त्व में किसी एक धर्म का वाचक नय होता है ।"

इन सब बातों को धवलाकार ने और भी अधिक स्पष्ट करने का यत्न किया है, जो कि इसप्रकार है :–

"को नयो नाम ?
ज्ञातुरभिप्रायो नयः ।
अभिप्राय इत्यस्य कोऽर्थः ?

प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशवस्त्वध्यवसायः अभिप्रायः । युक्तितः प्रमाणात् अर्थपरिग्रहः द्रव्यपर्याययोरन्यतरस्य अर्थ इति परिग्रहो वा नयः । प्रमाणेन परिच्छिन्नस्य वस्तुनः द्रव्ये पर्याये वा वस्त्वध्यवसायो नय इति यावत् ।[2]

प्रश्न :– नय किसे कहते हैं ?

उत्तर :– ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं ।

प्रश्न :– अभिप्राय इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :– प्रमाण से गृहीत वस्तु के एकदेश में वस्तु का निश्चय ही अभिप्राय है । युक्ति अर्थात् प्रमाण से अर्थ ग्रहण करने अथवा द्रव्य और पर्यायों में से किसी एक को ग्रहण करने का नाम नय है । अथवा प्रमाण से जानी हुई वस्तु के द्रव्य अथवा पर्याय में अर्थात् सामान्य या विशेष में वस्तु के निश्चय को नय कहते हैं, ऐसा अभिप्राय है ।"

नयों का कथन सापेक्ष ही होता है, निरपेक्ष नहीं; क्योंकि वे वस्तु के अंशनिरूपक हैं । नयों के कथन के साथ यदि अपेक्षा न लगाई जावे तो जो बात वस्तु के अंश के बारे में कही जा रही है, उसे सम्पूर्ण वस्तु के बारे में समझ लिया जा सकता है, जो कि सत्य नहीं होगा । जैसे हम कहें 'आत्मा अनित्य है'; यह कथन पर्याय की अपेक्षा तो सत्य है, पर यदि इसे

---

[1] पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध, श्लोक ५०४
[2] जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ ५१३

द्रव्य-पर्यायात्मक आत्मवस्तु के बारे में समझ लिया जाय तो सत्य नहीं होगा, क्योंकि द्रव्य-पर्यायात्मक आत्मवस्तु तो नित्यानित्यात्मक है।

इसीलिए कहा है :–

"निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत् ॥[1]

निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय सम्यक् व सार्थक होते हैं।"

और भी –

"ते सावेक्खा सुणया णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति।[2]

वे नय सापेक्ष हों तो सुनय होते हैं और निरपेक्ष हों तो दुर्नय होते हैं।"

और भी अनेक शास्त्रों में नयों की विभिन्न परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। उन सबको यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनमें वे ही बातें हैं जो कि समग्ररूप से उक्त कथनों में आ जाती हैं।

उक्त समस्त कथनों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर निम्नानुसार तथ्य प्रतिफलित होते हैं :–

१. नय स्याद्वादरूप सम्यक्श्रुतज्ञान के अंश हैं।
२. नयों की प्रवृत्ति प्रमाण द्वारा जाने हुए पदार्थ के एक अंश में होती है।
३. अनन्त धर्मात्मक पदार्थ के कोई एक धर्म को अथवा परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्म-युगलों में से कोई एक धर्म को नय अपना विषय बनाता है।
४. वस्तु के किस धर्म को विषय बनाया जाये, यह ज्ञानी वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर करता है।
५. नय ज्ञानी के ही होते हैं।
६. ज्ञानी वक्ता जिसको विषय बनाता है, उसे विवक्षित कहते हैं।
७. नयों के कथन में विवक्षित धर्म मुख्य होता है और अन्य धर्म गौण रहते हैं।
८. नय गौण धर्मों का निराकरण नहीं करता, मात्र उनके सम्बन्ध में मौन रहता है।
९. नय ज्ञानात्मक भी होते हैं और वचनात्मक भी।
१०. सापेक्ष नय ही सम्यक्नय होते हैं, निरपेक्ष नहीं।

जिन नयों के प्रयोग में उक्त तथ्य न पाये जावें, वस्तुतः वे नय नहीं हैं; नयाभास हैं।



[1] आचार्य समन्तभद्र : आप्तमीमांसा, कारिका १०८

[2] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६६

गौण
अनिराकृत का अर्थ गौण ठीक नहीं है क्योंकि गौण मुख्य
का भेद न होकर एक अंश का ग्रहण है बाकी के अंश भी
वहाँ अनिराकृत हैं जैसे। आचार्य ने व्यवहार के साथ ही
निश्चय का कथन किया

नयों की प्रामाणिकता

वस्तुस्वरूप के अधिगम एवं प्रतिपादन में नयों का प्रयोग जैनदर्शन की मौलिक विशेषता है। अन्य दर्शनों में नय नाम की कोई चीज ही नहीं है; सर्वत्र प्रमाण की ही चर्चा है।

जैनदर्शन में तत्त्वार्थों के अधिगम के उपायों की चर्चा में प्रमाण और नय – दोनों का समानरूप से उल्लेख है।[1]

अतः यह प्रश्न भी उठाया जाता है कि नय प्रमाण हैं या अप्रमाण। यदि अप्रमाण हैं तो उनके प्रयोग से क्या लाभ है? और यदि प्रमाण हैं तो प्रमाण से भिन्न हैं या अभिन्न। यदि अभिन्न हैं तो फिर उनके अलग उल्लेख की आवश्यकता नहीं और भिन्न हैं तो फिर नय प्रमाण कैसे हो सकते हैं, अप्रमाण ही रहे।

इस प्रश्न का उत्तर आचार्य विद्यानन्दि इसप्रकार देते हैं :–

"नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः।
स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः॥[2]

नय न तो अप्रमाण है और न प्रमाण है, किन्तु ज्ञानात्मक है; अतः प्रमाण का एकदेश है – इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है।"

इसी बात को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी लिखते हैं :–

"शंकाकार कहता है कि यदि नय प्रमाण से भिन्न है तो वह अप्रमाण ही हुआ क्योंकि प्रमाण से भिन्न अप्रमाण ही होता है। एक ज्ञान प्रमाण भी न हो और अप्रमाण भी न हो, ऐसा तो सम्भव नहीं है क्योंकि किसी को प्रमाण न मानने पर अप्रमाणता अनिवार्य है और अप्रमाण न मानने पर प्रमाणता अनिवार्य है – दूसरी कोई गति नहीं है।

---

[1] 'प्रमाणनयैरधिगमः' : तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र ६

[2] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक : नयविवरण, श्लोक १०

इसका उत्तर देते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि प्रमाणता और अप्रमाणता के सिवाय भी एक तीसरी गति है, वह है प्रमाणैकदेशता – प्रमाण का एकदेशपना। प्रमाण का एकदेश न तो प्रमाण ही है क्योंकि प्रमाण का एकदेश प्रमाण से सर्वथा अभिन्न भी नहीं है; और न अप्रमाण ही है क्योंकि प्रमाण का एकदेश प्रमाण से सर्वथा भिन्न भी नहीं है। देश और देशी में कथंचित् भेद माना गया है।"[1]

'श्लोकवार्तिक' में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है, वह इस-प्रकार है :–

"स्वार्थनिश्चायकत्वेन प्रमाणं नय इत्यसत्।
स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः ।।४।।

नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ।।५।।

तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता।
समुद्रबहुता वा स्यात्तत्त्वे क्वाऽस्तु समुद्रवत् ।।६।।

यथांशिनि प्रवृत्तस्य ज्ञानस्येष्टा प्रमाणता।
तथांशेष्वपि किन्न स्यादिति मानात्मको नयः ।।७।।

तन्नांशिन्यपि निःशेषधर्माणां गुणतागतौ।
द्रव्यार्थिकनयस्यैव व्यापारान्मुख्यरूपतः ।।८।।

धर्मधर्मिसमूहस्य प्राधान्यार्पणया विदः।
प्रमाणत्वेन निर्णीतेः प्रमाणादपरो नयः ।।९।।[2]

स्व और अर्थ का निश्चायक होने से नय प्रमाण ही है – ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि स्व और अर्थ के एकदेश को जानना नय का लक्षण है ।।४।।

वस्तु का एकदेश न तो वस्तु है और न अवस्तु है। जैसे – समुद्र के अंश को न तो समुद्र कहा जाता है और न असमुद्र कहा जाता है। यदि समुद्र का एक अंश समुद्र है तो शेष अंश असमुद्र हो जायेगा और यदि समुद्र का प्रत्येक अंश समुद्र है तो बहुत से समुद्र हो जायेंगे और ऐसी स्थिति में समुद्र का ज्ञान कहाँ हो सकता है? ।।५-६।।

---

[1] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ २३१-२३२, श्लोक १० की व्याख्या

[2] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक : नयविवरण, श्लोक ४–९

जैसे अंशी वस्तु में प्रवृत्ति करने वाले ज्ञान को प्रमाण माना जाता है वैसे ही वस्तु के अंश में प्रवृत्ति करने वाले अर्थात् जाननेवाले नय को प्रमाण क्यों नहीं माना जाता; अतः नय प्रमाणस्वरूप ही है ।।७।।

उक्त आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि जिस अंशी या धर्मी में उसके सब अंश या धर्म गौण हो जाते हैं उस अंशी में मुख्यरूप से द्रव्यार्थिकनय की ही प्रवृत्ति होती है अर्थात् ऐसा अंशी द्रव्यार्थिकनय का विषय है, अतः उसका ज्ञान नय है । और धर्म तथा धर्मी के समूहरूप वस्तु के धर्मों और धर्मी दोनों को प्रधानरूप से जानने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं ।

अतः नय प्रमाण से भिन्न है ।।८-९।।"

प्रमाण और नय का अन्तर स्पष्ट करते हुए धवलाकार लिखते हैं :-

"किं च न प्रमाणं नयः, तस्यानेकान्तविषयत्वात् । न नयः प्रमाणं, तस्यैकान्तविषयत्वात् ।[1]

प्रमाण नय नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विषय अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्मात्मक वस्तु है । और न नय प्रमाण हो सकता है, क्योंकि उसका विषय एकान्त अर्थात् अनन्त धर्मात्मक वस्तु का एक अंश (धर्म) है ।"

प्रमाणशास्त्र के विशेषज्ञ आचार्य अकलंकदेव तो नय को सम्यक्-एकान्त और प्रमाण को सम्यक्-अनेकान्त घोषित करते हुए लिखते हैं :-

"सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते । सम्यगनेकान्तः प्रमाणम् । नयार्पणादेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवणत्वात्, प्रमाणार्पणादनेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणत्वात् ।[2]

सम्यगेकान्त नय कहलाता है और सम्यगनेकान्त प्रमाण । नयविवक्षा वस्तु के एक धर्म का निश्चय करानेवाली होने से एकान्त है और प्रमाण-विवक्षा वस्तु के अनेक धर्मों की निश्चयस्वरूप होने के कारण अनेकान्त है ।

प्रमाण सर्व-नयरूप होता है, क्योंकि नयवाक्यों में 'स्यात्' शब्द लगाकर बोलने को प्रमाण कहते हैं ।[3] अस्तित्वादि जितने भी वस्तु के निज स्वभाव हैं, उन सबको अथवा विरोधी धर्मों को युगपत् ग्रहण करने-वाला प्रमाण है और उन्हें गौण-मुख्य भाव से ग्रहण वाला नय है ।[4]

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ ५१६

[2] तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ० १, सूत्र ६

[3] स्याद्वादमंजरी, श्लोक २८, पृष्ठ ३२१

[4] बृहन्नयचक्र (देवसेनकृत), गाथा ७१

प्रमाण और नय को उदाहरण सहित स्पष्ट करते हुए पंचाध्यायीकार लिखते हैं :–

"तत्त्वमनिर्वचनीयं शुद्धद्रव्यार्थिकस्य मतम् ।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं पर्यायार्थिकनयस्य पक्षोऽयम् ।।
यदिदमनिर्वचनीयं गुणपर्ययवत्तदेव नास्त्यन्यत् ।
गुणपर्ययवद्यदिदं तदेव तत्त्वं तथा प्रमाणमिति ।।[1]

'तत्त्व अनिर्वचनीय है' – यह शुद्धद्रव्यार्थिकनय का पक्ष है। 'द्रव्य गुणपर्यायवान है' – यह पर्यायार्थिकनय का पक्ष है। और 'जो यह अनिर्वचनीय है वही गुणपर्यायवान है, कोई अन्य नहीं; और जो यह गुणपर्यायवान है वही तत्त्व है' – ऐसा प्रमाण का पक्ष है।"

यद्यपि इसप्रकार हम देखते हैं कि नय प्रमाण से भिन्न है, तथापि उसकी प्रामाणिकता में कोई संदेह की गुंजाइश नहीं है। वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन में वह प्रमाण के समान ही प्रमाण (प्रामाणिक) है।

जैनदर्शन की इस अनुपम कथनशैली को अप्रमाण समझकर उपेक्षा करना उचित नहीं है, अपितु इसे भलीभाँति समझकर इस शैली में प्रतिपादित जिनागम और जिन-अध्यात्म का रहस्य समझने का सफल यत्न किया जाना चाहिए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि इसके जाने बिना जैनदर्शन का मर्म समझ पाना तो बहुत दूर, उसमें प्रवेश भी संभव नहीं है।



[1] पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध, गाथा ७४७–७४८

मूलनय : कितने ?

जिनागम में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर नयों के भेद-प्रभेदों का वर्गीकरण विभिन्न रूपों में किया गया है। यदि एक स्थान पर दो नयों की चर्चा है तो दूसरी जगह तीन प्रकार के नयों का उल्लेख मिलता है। इसीप्रकार यदि तत्त्वार्थसूत्र में सात नयों की बात आती है[1] तो प्रवचनसार में ४७ नय बताये गए हैं।[2]

'गोम्मटसार' व 'सन्मतितर्क' में तो यहाँ तक लिखा है :–

"जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।[3]

जितने वचन-विकल्प हैं, उतने ही नयवाद हैं अर्थात् नय के भेद हैं।"

'श्लोकवार्तिक' के 'नयविवरण' में श्लोक १७ से १९ तक आचार्य विद्यानन्दि लिखते हैं कि नय सामान्य से एक, विशेष में – संक्षेप में दो, विस्तार से सात, और अति विस्तार से संख्यातभेद वाले हैं।

धवलाकार कहते हैं कि अवान्तर भेदों की अपेक्षा नय असंख्य प्रकार के हैं। उनका मूल कथन इसप्रकार है :–

"एवमेते संक्षेपेण नयाः सप्तविधाः, अवान्तर भेदेन पुनरसंख्येयाः।[4]

इसतरह संक्षेप में नय सात प्रकार के हैं और अवान्तर भेदों से असंख्यात प्रकार के समझना चाहिए।"

'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार नय अनन्त भी हो सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु की शक्तियाँ अनन्त हैं, अतः प्रत्येक शक्ति की अपेक्षा भेद को प्राप्त होकर नय अनन्त-विकल्परूप हो जाते हैं।[5]

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र ३३

[2] प्रवचनसार, परिशिष्ट

[3] (क) गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ८९४
(ख) सन्मतितर्क, का० ३, गाथा ४७

[4] धवला, पु० १, खंड १, भाग १, सूत्र १, पृष्ठ ९१

[5] सर्वार्थसिद्धि, अ० १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ १०२

प्रवचनसार में भी अनन्त नयों की चर्चा है।[1]

नयचक्र भी उतना ही जटिल है जितनी कि उसकी विषयभूत अनन्तधर्मात्मक वस्तु। विस्तार तो बहुत है, किन्तु नयचक्र और आलापपद्धति में मूलनयों की चर्चा इसप्रकार की गई है :—

"णिच्छयववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेउ पज्जयदव्वत्थियं मुणह ॥[2]

सर्वनयों के मूल निश्चय और व्यवहार – ये दो नय हैं। द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक – ये दोनों निश्चय व्यवहार के हेतु हैं।"

उक्त छन्द का अर्थ इसप्रकार भी किया गया है :—

"नयों के मूलभूत निश्चय और व्यवहार दो भेद माने गये हैं, उसमें निश्चयनय तो द्रव्याश्रित है और व्यवहारनय पर्यायाश्रित है, ऐसा समझना चाहिए।"[3]

नयचक्र के उक्त कथन में जहाँ एक ओर निश्चय और व्यवहार को मूलनय कहा गया है, वहीं दूसरी ओर उसी नयचक्र में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों को मूलनय बताया गया है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों को मूलनय बताने वाली गाथा इसप्रकार है :—

"दो चेव य मूलणया, भणिया दव्वत्थ पज्जयत्थगया।
अण्णे असंखसंखा ते तब्भेया मुणेयव्वा ॥[4]

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक – ये दो ही मूलनय कहे हैं, अन्य असंख्यात-संख्या को लिए इनके ही भेद जानना चाहिए।"

इसप्रकार दो दृष्टियाँ सामने आती हैं। एक निश्चय-व्यवहार को मूलनय बताने वाली और दूसरी द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों को मूलनय बताने वाली।

दोनों दृष्टियों में समन्वय की चर्चा भी हुई है।

---

[1] प्रवचनसार, परिशिष्ट

[2] (क) द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १८२
(ख) आलापपद्धति, गाथा ३

[3] आचार्य शिवसागर स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ ५६१

[4] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १८३

पंचाध्यायीकार ने व्यवहार और पर्यायार्थिक नय को कथंचित् एक बताते हुए कहा है :–

"पर्यायार्थिक नय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति ।
एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचार मात्रः स्यात् ।।[1]

पर्यायार्थिक कहो या व्यवहारनय – इन दोनों का एक ही अर्थ है, क्योंकि इस नय के विषय में जितना भी व्यवहार होता है, वह उपचारमात्र है ।"

नयचक्र की गाथा १८२ का दूसरे प्रकार से किया गया उक्त अर्थ भी दोनों में समन्वय का ही प्रयास लगता है ।

यद्यपि निश्चयनय को द्रव्याश्रित एवं व्यवहारनय को पर्यायाश्रित बताकर दोनों प्रकार के मूलनयों में समन्वय का प्रयास किया गया है, तथापि यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि निश्चय-व्यवहार द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक के पर्यायवाची नहीं हैं ।

नयचक्र की गाथा १८२ में निश्चय-व्यवहार को सर्वनयों का मूल बताने के तत्काल बाद गाथा १८३ में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को मूलनय बताने से ऐसा लगता है कि ग्रंथकार कुछ विशेष बात कहना चाहते हैं । यदि वे निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को पर्यायवाची मानते होते तो फिर उन्हें अगली ही गाथा में मूलनयों के रूप में उनका पृथक् उल्लेख करने की क्या आवश्यकता थी ?

इस संदर्भ में गाथा १८२ की दूसरी पंक्ति महत्त्वपूर्ण है, उस पर ध्यान दिया जाना चाहिए । उसमें वे द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को निश्चय-व्यवहार का हेतु कहते हैं । यहाँ साधन शब्द का अर्थ व्यवहार किया जा रहा है, जो कि अनुचित नहीं है ।

गाथा १८२-१८३ पर ध्यान देने पर ऐसा लगता है कि नयचक्रकार निश्चय-व्यवहार को तो मूलनय मानते ही हैं; साथ ही उनके हेतु होने से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों को भी मूलनय स्वीकार करते हैं ।

यहाँ पर द्रव्यार्थिकनय निश्चयनय का और पर्यायार्थिकनय व्यवहार-नय का हेतु है – ऐसा कहने के स्थान पर यह भी कहा जा सकता है कि

[1] पंचाध्यायी, अ० १, श्लोक ५२१

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनों ही नय निश्चय-व्यवहार – दोनों नयों के हेतु हैं। जिनागम में समागत अनेक प्रयोगों से हमारी बात सहज सिद्ध होती है, क्योंकि द्रव्यार्थिक के अनेक भेदों को अध्यात्म में व्यवहार कहा जाता है तथा पर्यायार्थिक के अनेक भेदों का कहीं-कहीं निश्चय के रूप में भी कथन मिल जावेगा।

वस्तुतः यह दो प्रकार की कथन-पद्धतियों के भेद हैं, इन्हें एक-दूसरे से मिलाकर देखने की आवश्यकता ही नहीं है। मुख्यतः अध्यात्म-पद्धति में निश्चय-व्यवहार शैली का प्रयोग होता है और आगम-पद्धति में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक शैली का प्रयोग देखा जाता है।

यद्यपि ये दोनों शैलियां भिन्न-भिन्न हैं और इनके प्रयोग भी भिन्न-भिन्नरूप में होते हैं; तथापि इनके प्रयोगों के बीच कोई विभाजन रेखा खींचना संभव नहीं है, क्योंकि आगम और अध्यात्म व उनके अभ्यासियों में भी ऐसा कोई विभाजन नहीं है। आगमाभ्यासी अध्यात्मी भी होते हैं, इसीप्रकार अध्यात्मी भी आगमाभ्यास करते ही हैं। तथा ग्रंथों में भी इसप्रकार का कोई पक्का विभाजन नहीं है। आगम ग्रंथों में अध्यात्म की और अध्यात्म ग्रंथों में आगम की चर्चा पाई जाती है।

यद्यपि निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक पर्यायवाची नहीं हैं; तथापि द्रव्यार्थिक निश्चयनय के और पर्यायार्थिक व्यवहारनय के कुछ निकट अवश्य है।

उक्त सम्पूर्ण चर्चा के उपरान्त भी यह प्रश्न तो खड़ा ही है कि दो मूलनय कौन हैं – निश्चय-व्यवहार या द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक।

बहुत-कुछ विचार-विमर्श के बाद यही उचित लगता है कि अध्यात्म-शैली के मूलनय निश्चय-व्यवहार हैं और आगम-शैली के मूलनय द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक हैं।

'आलापपद्धति'[1] में लिखा है :–

"पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते। तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो-व्यवहारश्च।

फिर भी अध्यात्म-भाषा के द्वारा नयों का कथन करते हैं। मूलनय दो हैं – निश्चय और व्यवहार।"

---

[1] आलापपद्धति, पृष्ठ २२८ [यह लघुग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'द्रव्य-स्वभावप्रकाशक नयचक्र' के अंत में मुद्रित है। उक्त पृष्ठ संख्या इस ग्रंथ के अनुसार दी गई है। आगे भी इसी प्रति के आधार पर पृष्ठ संख्या दी जावेगी।]

इस कथन से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि निश्चय-व्यवहार अध्यात्म के नय हैं।

उक्त दोनों दृष्टियों को लक्ष्य में रखकर विचार करने पर मूलनय दो-दो के दो युगलों में कुल मिलाकर चार ठहरते हैं :–

(क) १. निश्चय २. व्यवहार
(ख) १. द्रव्यार्थिक २. पर्यायार्थिक

लगता है कि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को निश्चय-व्यवहार का हेतु कहकर ग्रंथकार आगम को अध्यात्म का हेतु कहना चाहते हैं। द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक आगम के नय हैं और निश्चय-व्यवहार अध्यात्म के नय हैं; अतः यहाँ द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को निश्चय-व्यवहार का हेतु कहने से यह सहज ही प्रतिफलित हो जाता है कि आगम अध्यात्म का हेतु है, कारण है, साधन है।

आत्मा का साक्षात् हित करनेवाला तो अध्यात्म ही है, आगम तो उसका सहकारी कारण है – यही बताना उक्त कथन का उद्देश्य भासित होता है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मूलनय निश्चय-व्यवहार ही हैं, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को तो निश्चय-व्यवहार के हेतु होने से मूलनय कहा गया है।

केई नर निश्चय से आत्मा को शुद्ध मान,
हुए हैं स्वच्छंद न पिछानें निज शुद्धता।
केई व्यवहार दान, तप, शीलभाव को ही,
आत्मा का हित मान छाड़ैं नहीं मुद्धता ॥
केई व्यवहारनय-निश्चय के मारग को,
भिन्न-भिन्न जानकर करत निज उद्धता।
जाने जब निश्चय के भेद व्यवहार सब,
कारण को उपचार माने तब बुद्धता ॥५॥

– आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमलजी

निश्चय-व्यवहार : विरोध-परिहार

निश्चय और व्यवहारनयों में विषय के भेद से परस्पर विरोध है। निश्चयनय का विषय अभेद है, व्यवहारनय का विषय भेद है। निश्चयनय पूर्णानन्दस्वरूप, एक, अखण्ड, अभेद आत्मा को विषय बनाता है और व्यवहारनय वर्तमानपर्याय, राग आदि भेद को विषय बनाता है। इसप्रकार दोनों के विषय में अन्तर है। निश्चय का विषय द्रव्य है, व्यवहार का विषय पर्याय है। इसप्रकार दो नयों का परस्पर विरोध है।

इन नयों के विरोध को नाश करनेवाले स्यात्पद से चिह्नित जिनवचन हैं। 'स्यात्' अर्थात् कथञ्चित् – किसी एक अपेक्षा से। जिनवचनों में प्रयोजनवश द्रव्यार्थिकनय को मुख्य करके निश्चय कहा है तथा पर्यायार्थिकनय या अशुद्धद्रव्यार्थिकनय को गौण करके व्यवहार कहा है। पर्याय में जो अशुद्धता है, वह द्रव्य की ही है; इसप्रकार पर्यायार्थिकनय को अशुद्धद्रव्यार्थिक-नय भी कहा है।

देखो ! त्रिकाल, ध्रुव, एक, अखण्ड, ज्ञायकभाव को मुख्य करके, निश्चय कहकर सत्यार्थ कहा है और पर्याय को गौण करके, व्यवहार कहकर असत्यार्थ कहा है।

इसप्रकार जिनवचन 'स्यात्' पद द्वारा दोनों नयों का विरोध मिटाते हैं।

– आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी

[प्रवचनरत्नाकर भाग १, पृष्ठ १७०]

निश्चय और व्यवहार

दिगम्बर जैन समाज में निश्चय और व्यवहार आज के बहुचर्चित विषय हैं। नयों के नाम पर आज जो भी चर्चा होती है उसमें निश्चय और व्यवहार ही मुख्य विषय रहते हैं। निश्चय और व्यवहार आज शास्त्रीय चर्चा के ही विषय नहीं रहे हैं, अपितु उनके नाम पर पार्टियाँ भी बन गई हैं। शिविरों की चर्चा भी आज जन-साधारण के द्वारा निश्चय और व्यवहार के नाम से की जाने लगी है। यहाँ निश्चय वालों का शिविर लगा है, वहाँ व्यवहार वालों का – इसप्रकार की चर्चा करते लोग आपको कहीं भी मिल जावेंगे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो चर्चा कभी विद्वानों की गोष्ठियों तक में न होती थी, वह आज जन-जन की वस्तु बन गई है – इसका एकमात्र श्रेय यदि किसी को है तो वह श्री कानजी स्वामी को है, जिन्होंने जनोपयोगी जिनागम की इस अद्भुत प्रतिपादन शैली को घर-घर तक पहुँचा दिया है।

यद्यपि निश्चय-व्यवहार की शैली में निबद्ध जिनागम का अध्ययन, मनन और चर्चा आज सारा समाज करने लगा है, यह एक शुभ लक्षण है; तथापि एक अशुभ प्रवृत्ति भी इसके साथ पनपने लगी है। वह यह है कि यह कलहप्रिय दिगम्बर जैन समाज पहिले से ही गाँव-गाँव में अपने व्यक्तिगत राग-द्वेषों के कारण गुटों में विभक्त है और निरन्तर किसी न किसी बात को लेकर लड़ता-झगड़ता रहा है। अब वे ही गुट निश्चय-व्यवहार के नाम पर भी लड़ने-झगड़ने लगे हैं और अपनी व्यक्तिगत कषायों को निश्चय-व्यवहार के नाम से व्यक्त करने लगे हैं तथा कुछ निहित स्वार्थी लोग निश्चय-व्यवहार की तात्त्विक चर्चा को सड़कों पर लाकर उत्तेजना फैलाकर अपने स्वार्थ की सिद्धि में संलग्न हो गए हैं।

जन-सामान्य तो अभी निश्चय-व्यवहार का सही स्वरूप समझ नहीं पाया है, अतः उन्हें भड़काने में इन्हें कभी-कभी और कहीं-कहीं सफलता भी मिल जाती है। समाज में शांति बनी रहे और निश्चय-व्यवहार शैली में निबद्ध जिनागम का मर्म जन-जन तक पहुँच सके, इसके लिए निश्चय-व्यवहार नयों का स्वरूप सम्पूर्ण समाज समझे – यह बहुत जरूरी है। जिनागम की यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निर्विवाद प्रतिपादन-शैली व्यक्तिगत

स्वार्थों और सामाजिक राजनीति में उलझकर उपेक्षित न हो जायें — तदर्थ जिनागम के परिपेक्ष्य में इसका सप्रमाण गंभीरतम विवेचन अपेक्षित है। यही कारण है कि यहाँ इस पर विस्तार से विचार किया जा रहा है।

जिनागम में निश्चय-व्यवहार की अनेक परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं।

नयचक्रकार माइल्लधवल लिखते हैं :—

"जो सियभेदुवयारं धम्माणं कुणइ एगवत्थुस्स।
सो ववहारो भणियो विवरीओ णिच्छयो होइ॥[1]

जो एक वस्तु के धर्मों में कथंचित् भेद व उपचार करता है, उसे व्यवहारनय कहते हैं और उससे विपरीत निश्चयनय होता है।"

इसीप्रकार का भाव आलापपद्धति में भी व्यक्त किया गया है :—

"अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः। भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहारः।

अभेद और अनुपचाररूप से वस्तु का निश्चय करना निश्चयनय है और भेद तथा उपचाररूप से वस्तु का व्यवहार करना व्यवहारनय है।"

पंचाध्यायीकार इसी बात को इसप्रकार व्यक्त करते हैं :—

"लक्षणमेकस्य सतो यथाकथञ्चिद्यथा द्विधाकरणम्।
व्यवहारस्य तथा स्यात्तदितरथा निश्चयस्य पुनः॥[2]

जिसप्रकार एक सत् को जिस किसी प्रकार से विभाग करना व्यवहार-नय का लक्षण है, उसीप्रकार इससे उल्टा निश्चयनय का लक्षण है।"

पण्डितप्रवर आशाधरजी लिखते हैं :—

"कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक्॥[3]

जो निश्चय की प्राप्ति के लिए कर्त्ता, कर्म, करण आदि कारकों को जीव आदि वस्तु से भिन्न बतलाता है, वह व्यवहारनय है तथा अभिन्न देखनेवाला निश्चयनय है।"

---

[1] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा २६४

[2] पंचाध्यायी, अ० १, श्लोक ६१४

[3] अनागारधर्मामृत, अ० १, श्लोक १०२

इसीप्रकार का भाव नागसेन के तत्त्वानुशासन में भी व्यक्त किया गया है :–

"अभिन्न कर्तृकर्मादि विषयो निश्चयो नयः ।
व्यवहारनयो भिन्न कर्तृकर्मादिगोचरः ।।

जिसका अभिन्न कर्ता-कर्म आदि विषय हैं, वह निश्चयनय है और जिसका विषय भिन्न कर्ता-कर्म आदि हैं, वह व्यवहारनय है ।"

'आत्मख्याति' में आचार्य अमृतचन्द्र ने जो परिभाषा दी है, वह इसप्रकार है :–

"आत्माश्रितो निश्चयनय, पराश्रितो व्यवहारनयः ।[1]

आत्माश्रित कथन को निश्चय और पराश्रित कथन को व्यवहार कहते हैं ।"

भूतार्थ को निश्चय और अभूतार्थ को व्यवहार कहनेवाले कथन भी उपलब्ध होते हैं ।[2]

अनेक शास्त्रों का आधार लेकर पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने निश्चय-व्यवहार का सांगोपांग विवेचन किया है[3], जिसका सार इसप्रकार है :–

(१) सच्चे निरूपण को निश्चय और उपचरित निरूपण को व्यवहार कहते हैं ।[4]

(२) एक ही द्रव्य के भाव को उस रूप ही कहना निश्चयनय है और उपचार से उक्त द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप कहना व्यवहारनय है । जैसे – मिट्टी के घड़े को मिट्टी का कहना निश्चयनय का कथन है और घी का संयोग देखकर घी का घड़ा कहना व्यवहारनय का कथन है ।[5]

(३) जिस द्रव्य की जो परिणति हो, उसे उस ही का कहना निश्चयनय है और उसे ही अन्य द्रव्य की कहनेवाला व्यवहारनय है ।[6]

---

[1] समयसार गाथा २७२ की आत्मख्याति टीका

[2] (क) समयसार गाथा ११ (ख) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५

[3] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २४८–२५७

[4] वही, पृष्ठ २४८–४९

[5] वही, पृष्ठ २४९

[6] वही, पृष्ठ २५०

(४) व्यवहारनय स्वद्रव्य को, परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है तथा निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है।[1]

उक्त समस्त परिभाषाओं पर ध्यान देने पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :–

१. निश्चयनय का विषय अभेद है और व्यवहारनय का भेद।
२. निश्चयनय सच्चा निरूपण करता है और व्यवहारनय उपचरित।
३. निश्चयनय सत्यार्थ है और व्यवहारनय असत्यार्थ।
४. निश्चयनय आत्माश्रित कथन करता है और व्यवहारनय पराश्रित।
५. निश्चयनय असंयोगी कथन करता है और व्यवहारनय संयोगी।
६. निश्चयनय जिस द्रव्य का जो भाव या परिणति हो, उसे उसी द्रव्य की कहता है; पर व्यवहारनय निमित्तादि की अपेक्षा लेकर अन्य द्रव्य के भाव या परिणति को अन्य द्रव्य तक की कह देता है।
७. निश्चयनय प्रत्येक द्रव्य का स्वतन्त्र कथन करता है जबकि व्यवहार अनेक द्रव्यों को, उनके भावों, कारण-कार्यादिक को भी मिलाकर कथन करता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि निश्चय और व्यवहार की विषय-वस्तु और कथनशैली में मात्र भेद ही नहीं अपितु विरोध दिखाई देता है। क्योंकि जिस विषय-वस्तु को निश्चयनय अभेद अखण्ड कहता है, व्यवहार उसी में भेद बताने लगता है और जिन दो वस्तुओं को व्यवहार एक बताता है, निश्चय के अनुसार वे कदापि एक नहीं हो सकती हैं।

जैसा कि समयसार में कहा है :–

"ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो॥[2]

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २५१

[2] समयसार, गाथा २७

व्यवहारनय कहता है कि जीव और देह एक ही हैं और निश्चयनय कहता है कि जीव और देह कदापि एक नहीं हो सकते ।"

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि व्यवहार मात्र एक अखण्ड वस्तु में भेद ही नहीं करता, अपितु दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में अभेद भी स्थापित करता है । इसीप्रकार निश्चय मात्र एक अखण्ड वस्तु में भेदों का निषेध कर अखण्डता की ही स्थापना नहीं करता, अपितु दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में व्यवहार द्वारा प्रयोजनवश स्थापित एकता का खण्डन भी करता है ।

इसप्रकार निश्चयनय का कार्य पर से भिन्नत्व और निज में अभिन्नत्व स्थापित करना है तथा व्यवहार का कार्य अभेदवस्तु को भेद करके समझाने के साथ-साथ भिन्न-भिन्न वस्तुओं के संयोग व तन्निमित्तक संयोगी-भावों का ज्ञान कराना है । यही कारण है कि निश्चयनय का कथन स्वाश्रित और व्यवहारनय का कथन पराश्रित होता है तथा निश्चयनय के कथन को सत्यार्थ सच्चा और व्यवहारनय के कथन को असत्यार्थ उपचरित कहा जाता है ।

उक्त उदाहरण में ही देखिए, जहाँ व्यवहारनय देह और आत्मा में एकत्व स्थापित करता दिखाई दे रहा है, वहीं निश्चयनय उससे स्पष्ट इन्कार कर रहा है । कह रहा है कि जीव और देह कदापि एक नहीं हो सकते ।

व्यवहार की दृष्टि संयोग पर है, और निश्चय की दृष्टि असंयोगी तत्त्व पर ।

इसीप्रकार :–

"ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।।[1]

ज्ञानी (आत्मा) के चारित्र, दर्शन, ज्ञान यह तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं; निश्चय से ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है और दर्शन भी नहीं है; ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है ।"

इसमें व्यवहारनय ने एक अखण्ड आत्मा को ज्ञान, दर्शन, चारित्र से भेद करके समझाया है, किन्तु निश्चय ने सब भेदों का निषेधकर आत्मा को अभेद ज्ञायक स्थापित किया है ।

---

[1] समयसार, गाथा ७

व्यवहार सचेतन को जीव कहता है
शुद्ध नय = निश्चय नय ?

व्यवहारनय ने समयसार की २७वीं गाथा में पर से एकता बताई थी और ७वीं गाथा में एक आत्मा में भेद किये हैं तथा निश्चयनय ने २७वीं गाथा में पर से भिन्नता स्थापित की थी और ७वीं में भेद का निषेध कर एकता स्थापित की है।

इसप्रकार व्यवहार का कार्य निज में भेद और पर से अभेद करके समझाना है और निश्चय का कार्य पर से भेद और स्व से अभेद करना है। यही इनके परस्पर विरोध का रूप है।

निश्चय-व्यवहार के सम्बन्ध में जो स्थिति उक्त भेदाभेद सम्बन्धी है, वही स्थिति कर्त्ता-कर्मादि सम्बन्धी भेदाभेद की भी जाननी चाहिए।

जहाँ एक ओर व्यवहारनय से निमित्तादिक की अपेक्षा एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्तादि कहा जाता है और निश्चय से 'मैं ही मेरा कर्त्ता-धर्त्ता' कहा जाता है, वहीं दूसरी ओर कर्त्ता-कर्म का भेद करना ही व्यवहार है, और इसप्रकार के भेद का निषेध निश्चय का कार्य माना गया है।

इसप्रकार निश्चय का कार्य अभिन्न कर्त्ता-कर्मादि षट्कारक के साथ-साथ कर्त्ता-कर्म के भेद का निषेध भी है तथा व्यवहार का कार्य जहाँ एक ओर कर्त्ता-कर्म का भेद करना है, वहीं दूसरी ओर भिन्न-भिन्न द्रव्यों के बीच कर्त्ता-कर्म का सम्बन्ध बताना भी है। इन सबका सोदाहरण विशेष विस्तार निश्चय-व्यवहार के भेद-प्रभेदों के कथन में यथास्थान किया जावेगा।

इसप्रकार भेदाभेद सम्बन्धी निश्चय-व्यवहार में कर्त्ता-कर्मादि सम्बन्धी भेदाभेद भी आ जाता है।

निश्चय-व्यवहार की परिभाषा में भेदाभेद विशेषणों के साथ 'उपचार' विशेषण का भी प्रयोग है। दो द्रव्यों की एकता सम्बन्धी जितने भी संयोगी कथन हैं, वे सब उपचरित ही तो हैं। देह और आत्मा को एक बतानेवाला संयोगी कथन उपचरित व्यवहार ही तो है। एक द्रव्य के भाव को दूसरे द्रव्य का बताना, एक द्रव्य की परिणति को दूसरे द्रव्य की बताना, दो द्रव्यों की मिली हुई परिणति को एक द्रव्य की कहना, दो द्रव्यों के कारण-कार्यादिक में भी इसप्रकार के कथन करना ये सब उपचरित कथन ही हैं।

'आत्माश्रित कथन निश्चय और पराश्रित कथन व्यवहार' वाली परिभाषाएँ भी इनमें घटित हो जाती हैं।

अब रही निश्चय को भूतार्थ-सत्यार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ-असत्यार्थ कहने वाली बात। सो इसका आशय यह नहीं है कि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ है, उसका विषय है ही नहीं। उसके विषयभूत भेद और संयोग का भी अस्तित्व है, पर भेद व संयोग के आश्रय से आत्मा का अनुभव नहीं होता – इस अपेक्षा उसे अभूतार्थ कहा है।

निश्चयनय का विषय अभेद-अखण्ड आत्मा है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है – यही कारण है कि उसे भूतार्थ कहा है। समयसार में कहा है :–

"भूदत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवदि जीवो ॥११॥

जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।"

इसके सम्बन्ध में श्री कानजी स्वामी के विचार भी दृष्टव्य हैं :–

"जिनवाणी स्याद्वादरूप है, अपेक्षा से कथन करनेवाली है। अतः जहाँ जो अपेक्षा हो वहाँ वह समझना चाहिए। प्रयोजनवश शुद्धनय को मुख्य करके सत्यार्थ कहा है और व्यवहार को गौण करके असत्य कहा है। त्रिकाली, अभेद, शुद्धद्रव्य की दृष्टि करने से जीव को सम्यग्दर्शन होता है। इस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए त्रिकालीद्रव्य को अभेद कहकर भूतार्थ कहा है और पर्याय का लक्ष्य छुड़ाने के लिए उसे गौण करके असत्यार्थ कहा है। आत्मा अभेद, त्रिकाली, ध्रुव है; उसकी दृष्टि करने पर भेद दिखाई नहीं देता, और भेददृष्टि में निर्विकल्पता नहीं होती; इसलिए प्रयोजनवश भेद को गौण करके असत्यार्थ कहा है। अनन्तकाल में जन्म-मरण का अन्त करनेवाला बीजरूप सम्यग्दर्शन जीव को हुआ नहीं है। ऐसे सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का प्रयोजन सिद्ध करना है, इससे शुद्धज्ञायक को मुख्य करके सत्यार्थ कहा है, और पर्याय तथा भेद को गौण करके व्यवहार कहकर उसे असत्यार्थ कहा है।"[1]

"यहाँ कहते हैं कि त्रिकाली अभेददृष्टि में भेद दिखाई नहीं देते, इससे उसकी दृष्टि में भेद अविद्यमान, असत्यार्थ ही कहा जाता है। किन्तु ऐसा न समझना कि भेदरूप कोई वस्तु नहीं है, द्रव्य में गुण है ही नहीं, पर्याय है ही नहीं, भेद है ही नहीं। आत्मा में अनन्त गुण हैं, वे सब निर्मल हैं। दृष्टि के विषय में गुणों का भेद नहीं है, किन्तु अन्दर वस्तु में तो अनन्त गुण हैं। भेद सर्वथा कोई वस्तु ही नहीं है, ऐसा माना जाय तो

[1] प्रवचन रत्नाकर भाग १ (हिन्दी), पृष्ठ १४८

जैसा वेदान्त मतवाले भेदरूप अनित्य को देखकर अवस्तु मायास्वरूप कहते हैं और सर्वव्यापक एक अभेद नित्य शुद्धब्रह्म को वस्तु कहते हैं, ऐसा ठहरे तथा इससे सर्वथा एकान्त शुद्धनय के पक्षरूप मिथ्यादृष्टि का ही प्रसङ्ग प्राप्त होगा।"[1]

"माटी के घड़े को घी का घड़ा कहना व्यवहार है – इसलिए व्यवहार झूठा है; क्योंकि घड़ा घी-मय नहीं है, किन्तु माटी-मय है। उसीप्रकार द्रव्य को निश्चय और पर्याय को व्यवहार – और यह व्यवहार घी के घड़े की भाँति झूठा है – ऐसा नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार घड़ा घी-मय नहीं है, उसीप्रकार पर्याय हो ही नहीं – यह बात नहीं है। पर्याय अस्तिरूप है। पर्याय को व्यवहार कहा है, पर वह नहीं हो – यह बात नहीं है। रागपर्याय असद्भूतव्यवहारनय का विषय है। इन पर्यायों को अभूतार्थ कहा है, इसकारण वे पर्यायें हैं ही नहीं, घी के घड़े के समान झूठी हैं – ऐसा नहीं है। क्षायिक आदि चार भावों को परद्रव्य और परभाव कहा, इससे वे पर्यायें हैं ही नहीं, झूठी हैं – ऐसा नहीं है। घड़ा कुम्हार ने बनाया है ऐसा कहना जैसे झूठा है, उसीप्रकार अशुद्ध पर्यायों को व्यवहार कहा; अतः वे पर्यायें भी झूठी हैं – ऐसा नहीं है। जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व आदि पर्यायनय के विषय हैं; अतः वे व्यवहारनय से भूतार्थ हैं। पर्याय नहीं है – ऐसा नहीं है।

द्रव्यार्थिकनय से पर्याय को अभूतार्थ कहा; अतः पर्यायें हैं ही नहीं – ऐसा नहीं है। किन्तु निश्चय की मुख्यता से पर्याय को गौण करके व्यवहार कहकर वहाँ से दृष्टि हटाने के प्रयोजन से उन्हें असत्यार्थ कहा है। इससे ऐसा मानना कि पर्यायें हैं ही नहीं, ठीक नहीं है। जिसप्रकार 'घी का घड़ा' वाला व्यवहार झूठा है, उसीप्रकार सभी व्यवहार झूठा है – यह मानना ठीक नहीं है। नयों का कथन जहाँ जैसा हो वहाँ वैसा समझना चाहिए। यदि ठीक तरह से न समझोगे तो विपरीतता हो जावेगी।"[2]

समयसार की १४वीं गाथा की टीका में भी व्यवहारनय के विषय बद्धस्पृष्टादि भावों को व्यवहार से भूतार्थ और निश्चय से अभूतार्थ कहा गया है। तात्पर्य यह है कि व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ न कहकर कथंचित् असत्यार्थ कहा है।

---

[1] प्रवचन रत्नाकर भाग १ (हिन्दी), पृष्ठ १४७

[2] आत्मधर्म गुजराती, वर्ष ३६, अंक ३ (४३१), पृष्ठ १३

व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ माननेवालों को नियमसार के उस कथन की ओर ध्यान देना चाहिए जिसमें यह कहा है कि सर्वज्ञ भगवान पर को व्यवहार से जानते हैं।[1] व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ मानने पर केवली भगवान का पर को जानना असत्यार्थ ठहरेगा और सर्वमान्य सर्वज्ञता ही संकट में पड़ जावेगी।

इसीप्रकार व्यवहार को सर्वथा सत्य माननेवालों को भी समयसार के उस कथन की ओर ध्यान देना चाहिए जिसमें व्यवहारनय से जीव और शरीर को एक कहा गया है।[2]

यदि जीव और शरीर को एक कहनेवाले कथन को प्रयोजनवश किया गया कथन न मानकर सर्वथा सत्य मान लिया जाए तो मिथ्यात्व हुए बिना नहीं रहेगा। छहढाला में तो देह और आत्मा को एक मानने वाले को स्पष्टरूप से मिथ्यादृष्टि लिखा है :–

"देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्व मुधा है।[3]

देह और जीव को एक माननेवाला बहिरात्मा है, वह तत्त्व के बारे में मूर्ख है अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।"

अतः यह जानना चाहिए कि व्यवहारनय के उक्त दोनों ही कथन प्रयोजनवश किये गए सापेक्ष कथन हैं, अतः कथंचित् सत्यार्थ और कथंचित् असत्यार्थ हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि वह कौनसा प्रयोजन आ पड़ा था कि व्यवहारनय को ऐसी असंबद्ध बातें कहनी पड़ीं। इनमें असंबद्धता इसकारण प्रतीत होती है कि एक कथन तो सर्वज्ञता पर ही कुठाराघात करता प्रतीत होता है और दूसरा कथन शरीर और आत्मा को एक बतानेवाला होने से मिथ्यात्व का पोषक प्रतीत होता है।

केवली भगवान का पर को जानना व्यवहार है, इस कथन का प्रयोजन तो यह बताना रहा है कि केवली भगवान जिसप्रकार स्वयं को स्वयं में लीन होकर जानते हैं, उसप्रकार पर को उसमें लीन होकर नहीं जानते। उसे मात्र जानते हैं, उसमें लीन नहीं होते।

जैसा कि परमात्मप्रकाश (अध्याय १, गाथा ५२ की टीका) में स्पष्ट किया गया है :–

---

[1] नियमसार, गाथा १५९

[2] समयसार, गाथा २७

[3] छहढाला, दूसरी ढाल

"प्रश्न :– यदि केवली भगवान व्यवहारनय से लोकालोक को जानते हैं तो व्यवहारनय से ही उन्हें सर्वज्ञत्व भी होओ परन्तु निश्चयनय से नहीं ?

उत्तर :– जिसप्रकार तन्मय होकर स्वकीय आत्मा को जानते हैं, उसीप्रकार परद्रव्य को तन्मय होकर नहीं जानते, इसकारण व्यवहार कहा गया है, न कि उनके परिज्ञान का ही अभाव होने के कारण। यदि स्वद्रव्य की भाँति परद्रव्य को भी निश्चय से तन्मय होकर जानते तो परकीय सुख व दुःख को जानने से स्वयं सुखी-दुःखी और परकीय राग-द्वेष को जानने से स्वयं रागी-द्वेषी हो गये होते और इसप्रकार महत्-दूषण प्राप्त होता।"

इस सन्दर्भ में आचार्य जयसेन का कथन भी मननीय है, जो कि इसप्रकार है :–

"प्रश्न :– सौगतमतवाले (बौद्धजन) भी सर्वज्ञपना व्यवहार से मानते हैं, तब आप उनको दूषण क्यों देते हैं ? क्योंकि जैनमत में भी परपदार्थों का जानना व्यवहारनय से कहा जाता है।

उत्तर :– इसका परिहार करते हैं – सौगत आदि मतों में, जिसप्रकार निश्चय की अपेक्षा व्यवहार झूठ है, उसीप्रकार व्यवहाररूप से भी वह सत्य नहीं है। परन्तु जैनमत में व्यवहारनय यद्यपि निश्चय की अपेक्षा मृषा (झूठ) है, तथापि व्यवहाररूप से वह सत्य है। यदि लोकव्यवहाररूप से भी उसे सत्य न माना जाए तो सभी लोकव्यवहार मिथ्या हो जाएगा; और ऐसा होने पर अतिप्रसंग दोष आयेगा। इसलिए आत्मा व्यवहार से परद्रव्य को जानता देखता है, पर निश्चयनय से केवल आत्मा को ही।"[1]

तथा आत्मा और शरीर को एक बतानेवाले व्यवहार कथन का प्रयोजन यह रहा है कि जगत शरीर के संयोग में रहे जीव को भी जाने, अन्यथा निर्जीव भस्म की भाँति सजीव शरीर को भी मसल देगा। जीवों को द्रव्यहिंसा से बचाना – इस कथन का उद्देश्य रहा है।

जैसाकि आत्मख्याति में कहा गया है :–

"परन्तु यदि व्यवहारनय न बताया जाये तो परमार्थ से (निश्चयनय से) शरीर से जीव को भिन्न बताया जाने पर जैसे भस्म को मसल देने से हिंसा का अभाव है; उसीप्रकार त्रस-स्थावर जीवों को निःशंकतया मसल देने – कुचल देने (घात करने) में भी हिंसा का अभाव ठहरेगा और इस कारण बंध का ही अभाव सिद्ध होगा।"[2]

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, पृष्ठ ५६३
[2] समयसार, गाथा ४६ की टीका

यदि व्यवहारनय कथंचित् भूतार्थ है और कथंचित् अभूतार्थ, तो फिर निश्चय-व्यवहार की परिभाषाओं में भूतार्थ को निश्चय और अभूतार्थ को व्यवहार क्यों कहा गया है ?

इसका कारण भी एक प्रयोजनविशेष रहा है और वह यह कि निश्चयनय के आश्रय से मुक्ति की प्राप्ति होती है और व्यवहारनय के आश्रय से नहीं। जिसके आश्रय से मुक्ति हो, वह भूतार्थ और जिसके आश्रय से मुक्ति न हो, वह अभूतार्थ है। निश्चय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ कहने में यही दृष्टि रही है। जिनवाणी में व्यवहारनय को स्थान तो इसलिए प्राप्त हुआ है कि वह किन्हीं-किन्हीं को और कभी-कभी प्रयोजनवान होता है और अभूतार्थ इसलिए कहा गया है कि उसके आश्रय से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

आचार्य जयसेन ने समयसार की ११वीं गाथा के अर्थ में भी व्यवहारनय को भूतार्थ और अभूतार्थ कहा है। उन्होंने उक्त गाथा का अर्थ दो प्रकार से किया है। दूसरा अर्थ इसप्रकार है :–

"दूसरे व्याख्यान से व्यवहारनय अभूतार्थ है और भूतार्थ भी कहा गया है। मात्र व्यवहारनय दो प्रकार का नहीं कहा गया है अपितु 'दु' शब्द से निश्चयनय भी दो प्रकार का जानना चाहिए। भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से व्यवहारनय दो प्रकार का है और शुद्धनिश्चय और अशुद्धनिश्चय के भेद से निश्चयनय भी दो प्रकार का हुआ – इसप्रकार चार नय हुए।"

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि आचार्य जयसेन, आचाय अमृतचन्द्र द्वारा किये गए अर्थ को, जिसमें कि निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है, मुख्यरूप से स्वीकार कर रहे हैं। साथ ही दूसरे व्याख्यान से अर्थात् दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि कहकर उक्त अर्थ करते हैं।

दूसरे ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि वे व्यवहार के तो भूतार्थ-अभूतार्थ भेद करते हैं, पर निश्चय के भूतार्थ-अभूतार्थ भेद न करके शुद्ध-अशुद्ध भेद करते हैं। इससे निश्चयनय को अभूतार्थ कहने में जो संकोच उन्हें हुआ है, वह स्पष्ट हो जाता है।

यदि निश्चय के भूतार्थ-अभूतार्थ भेद भी किये जाते तो भी कोई विरोध नहीं आता, क्योंकि अध्यात्म में अशुद्धनय को व्यवहार भी कहा है। इसकारण शुद्धनिश्चय अर्थात् निश्चय भूतार्थ और अशुद्धनिश्चय अर्थात् व्यवहार ही अभूतार्थ प्रतिफलित होता।

निश्चय के कथन का वास्तविक मर्म न समझकर उसके द्वारा व्यवहार का निषेध सुनकर कोई व्यवहार के विषय की सत्ता का भी अभाव न मानले—इस दृष्टि से यद्यपि व्यवहार को भी कथंचित् सत्यार्थ कहा गया है, तथापि इसका आशय यह भी नहीं कि उसे निश्चय के समान ही सत्यार्थ मानकर उपादेय मान लें। उसकी जो वास्तविक स्थिति है, उसे स्वीकार करना चाहिए।

इस सन्दर्भ में पं० टोडरमलजी ने साफ-साफ लिखा है।—

"व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है; सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है; इसलिए उसका त्याग करना। तथा निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है; सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना।

यहाँ प्रश्न है कि यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे ?

समाधान :—जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है'—ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे ऐसे है नहीं; निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है—ऐसा जानना। इसप्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान जानकर 'ऐसे भी है, ऐसे भी है'—इसप्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।"[1]

यदि जिनागम में दोनों नयों का एक-सा ही उपादेय कहना अभीष्ट होता तो फिर व्यवहारनय को अभूतार्थ कहने की क्या आवश्यकता थी ? उसे अभूतार्थ कहने का प्रयोजन ही उससे सावधान करना रहा है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि व्यवहार अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उसे निश्चय के समान मानना भ्रम है, उससे सावधान करने की भी आवश्यकता प्रतीत होती है; तो फिर जिनवाणी में उसका उल्लेख ही क्यों है ?

इसलिए कि वह निश्चय का प्रतिपादक है, उसके बिना निश्चय का प्रतिपादन भी संभव नहीं है।

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २५१

पंचाध्यायीकार ने स्वयं इसप्रकार का प्रश्न उठाकर उत्तर दिया है, जो इसप्रकार है :–

"तस्मान्न्यायागत इति व्यवहारः स्यान्नयोऽप्यभूतार्थः ।
केवलमनुभवितारस्तस्य च मिथ्यादृशो हतास्तेऽपि ॥६३६॥

ननु चैवं चेन्नियमादादरणीयो नयो हि परमार्थः ।
किमकिञ्चित्कारित्वाद् व्यवहारेण तथाविधेन यतः ॥६३७॥

नैवं यतो बलादिह विप्रतिपत्तौ च संशयापत्तौ ।
वस्तुविचारे यदि वा प्रमाणमुभयावलम्बि तज्ज्ञानम् ॥६३८॥

तस्मादाश्रयणीयः केषाञ्चित् स नयः प्रसङ्गत्वात् ।
अपि सविकल्पानामिव न श्रेयो निर्विकल्पबोधवताम् ॥६३९॥

ननु च समीहितसिद्धिः किल चैकस्मान्नयात्कथं न स्यात् ।
विप्रतिपत्तिनिरासो वस्तुविचारश्च निश्चयादिति चेत् ॥६४०॥

नैवं यतोऽस्ति भेदोऽनिर्वचनीयो नयः स परमार्थः ।
तस्मात्तीर्थस्थितये श्रेयान् कश्चित् स वावदूकोऽपि ॥६४१॥[1]

इसलिए न्यायबल से यह बात प्राप्त हुई कि व्यवहारनय अभूतार्थ है और जो केवल उस व्यवहारनय का अनुभव करने वाले हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं और इसलिए वे पथभ्रष्ट हैं ।

शंका :– यदि व्यवहारनय अभूतार्थ है तो नियम से निश्चयनय ही आदर करने योग्य है, क्योंकि व्यवहारनय अकिञ्चित्कर है; अतः अपरमार्थभूत उससे क्या प्रयोजन है ?

समाधान :– यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि किसी विषय में बलपूर्वक विवाद होने पर और सन्देह होने पर या वस्तुविचार के समय जो ज्ञान दोनों नयों का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, वह प्रमाण माना गया है । इसलिए प्रसंगवश किन्हीं को व्यवहारनय का आश्रय करना योग्य है । किन्तु वह सविकल्प ज्ञानवालों के समान निर्विकल्प ज्ञानवालों के लिए उपयोगी नहीं है ।

शंका :– अपने अभीष्ट की सिद्धि एक ही नय से क्यों नहीं हो जाती, क्योंकि विवाद का परिहार और वस्तु का विचार निश्चयनय से ही हो जाएगा, इसलिए व्यवहारनय के मानने की क्या आवश्यकता है ?

[1] पंचाध्यायी, अ० १, श्लोक ६३६ से ६४१

समाधान :– ऐसा नहीं है, क्योंकि दोनों नयों में भेद है। वास्तव में निश्चयनय अनिर्वचनीय है, इसलिए तीर्थ की स्थापना करने के लिए वावदूक[1] व्यवहारनय का होना श्रेयस्कर है।

यद्यपि यहाँ व्यवहारनय को 'वावदूक' जैसे शब्द द्वारा प्रतिपादक माना है, तथापि उसकी उपयोगिता स्वीकार की गई है।

आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में इसीप्रकार का प्रश्न उठाकर उसका उत्तर समयसार ग्रन्थ का आधार लेकर दिया है, तथा स्वयं ने भी बहुत अच्छा स्पष्टीकरण किया है, जो मूलतः पठनीय है। उसका कुछ आवश्यक अंश इसप्रकार है :–

"फिर प्रश्न है कि यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है, तो उसका उपदेश जिनमार्ग में किसलिए दिया ? एक निश्चयनय ही का निरूपण करना था।

समाधान :– ऐसा ही तर्क समयसार में किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है :–

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥८॥

अर्थ :– जिसप्रकार अनार्य अर्थात् म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा बिना अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है; उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है; इसलिए व्यवहार का उपदेश है।

तथा इसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा कहा है कि :–

व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः।

इसका अर्थ है – इस निश्चय को अंगीकार करने के लिए व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं; परन्तु व्यवहारनय है सो अंगीकार करने योग्य नहीं है।

प्रश्न :– व्यवहार बिना निश्चय का उपदेश कैसे नहीं होता ? और व्यवहारनय कैसे अंगीकार नहीं करना ? सो कहिये।

समाधान :– निश्चय से तो आत्मा परद्रव्यों से भिन्न, स्वभावों से अभिन्न स्वयंसिद्ध वस्तु है; उसे जो नहीं पहिचानते, उनसे उसीप्रकार कहते रहें तब तो वे समझ नहीं पायें; इसलिए उनको व्यवहारनय से शरीरादिक परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा नर-नारक-पृथ्वीकायादिरूप जीव के विशेष

---

[1] वावदूक=बातूनी, बकवादी, अच्छा बोलने वाला, वक्ता
[संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ, पृष्ठ १०४४]

किये – तब मनुष्य जीव है, नारकी जीव है; इत्यादि प्रकार सहित उन्हें जीव की पहिचान हुई।

अथवा अभेद वस्तु में भेद उत्पन्न करके ज्ञान-दर्शनादि गुणपर्यायरूप जीव के विशेष किये, तब जाननेवाला जीव है, देखनेवाला जीव है; इत्यादि प्रकार सहित उनको जीव की पहिचान हुई।

तथा निश्चय से वीतरागभाव मोक्षमार्ग है, उसे जो नहीं पहिचानते; उनको ऐसे ही कहते रहें तो वे समझ नहीं पायें। तब उनको व्यवहारनय से, तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक परद्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा व्रत, शील, संयमादिरूप वीतरागभाव के विशेष बतलाये; तब उन्हें वीतरागभाव की पहिचान हुई।

इसीप्रकार अन्यत्र भी व्यवहार बिना निश्चय के उपदेश का न होना जानना।

तथा यहाँ व्यवहार से नर-नारकादि पर्याय ही को जीव कहा, सो पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना। पर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है, उसही को जीव मानना। जीव के संयोग से शरीरादिक को भी उपचार से जीव कहा, सो कथनमात्र ही है, परमार्थ से शरीरादिक जीव होते नहीं – ऐसा ही श्रद्धान करना।

तथा अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि भेद किये, सो उन्हें भेदरूप ही नहीं मान लेना, क्योंकि भेद तो समझाने के अर्थ किये हैं। निश्चय से आत्मा अभेद ही है, उसही को जीववस्तु मानना। संज्ञा-संख्यादि से भेद कहे सो कथनमात्र ही हैं, परमार्थ से भिन्न-भिन्न हैं नहीं – ऐसा ही श्रद्धान करना।

तथा परद्रव्य का निमित्त मिटाने की अपेक्षा से व्रत-शील-संयमादिक को मोक्षमार्ग कहा, सो इन्हीं को मोक्षमार्ग नहीं मान लेना; क्योंकि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हो तो आत्मा परद्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता हो जाये। परन्तु कोई द्रव्य किसी द्रव्य के आधीन है नहीं; इसलिए आत्मा अपने भाव रागादिक हैं, उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है; इसलिए निश्चय से वीतराग भाव ही मोक्षमार्ग है। वीतराग भावों के और व्रतादिक के कदाचित् कार्य-कारणपना है, इसलिए व्रतादिक को मोक्षमार्ग कहे सो कथनमात्र ही हैं; परमार्थ से बाह्यक्रिया मोक्षमार्ग नहीं है – ऐसा ही श्रद्धान करना।

इसीप्रकार अन्यत्र भी व्यवहारनय का अंगीकार नहीं करना – ऐसा जान लेना।

यहाँ प्रश्न है कि व्यवहारनय पर को उपदेश में ही कार्यकारी है या अपना भी प्रयोजन साधता है ?

समाधान :– आप भी जब तक निश्चयनय से प्ररूपित वस्तु को न पहिचाने तब तक व्यवहारमार्ग से वस्तु का निश्चय करे; इसलिए निचली दशा में अपने को भी व्यवहारनय कार्यकारी है; परन्तु व्यवहार को उपचारमात्र मानकर उसके द्वारा वस्तु को ठीक प्रकार समझे तब तो कार्यकारी हो; परन्तु यदि निश्चयवत् व्यवहार को भी सत्यभूत मानकर 'वस्तु इसप्रकार ही है' – ऐसा श्रद्धान करे तो उल्टा अकार्यकारी हो जाये।"[1]

निश्चय और व्यवहारनय के कथनों में जो परस्पर विरोध दिखाई देता है, वह विषयगत है। अनेकान्तात्मक वस्तु में जो परस्पर विरोधी धर्मयुगल पाये जाते हैं, उनमें से एक धर्म निश्चय का और दूसरा धर्म व्यवहार का विषय बनता है।

जिस दृष्टि से निश्चय-व्यवहार एक दूसरे का विरोध करते नजर आते हैं, उसी दृष्टि से वे एक-दूसरे के पूरक भी हैं। कारण कि वस्तु जिन विरोधी धर्मों को स्वयं धारण किये हुए है, उनमें से एक का कथन निश्चय और दूसरे का कथन व्यवहार करता है। यदि दोनों नय एक पक्ष को ही विषय करने लगें तो दूसरा पक्ष उपेक्षित हो जावेगा। अतः वस्तु के सम्पूर्ण प्रकाशन एवं प्रतिपादन के लिए दोनों नय आवश्यक हैं, अन्यथा वस्तु का समग्र स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पावेगा।

जहाँ एक ओर निश्चय और व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध है; वहीं दूसरी ओर व्यवहार और निश्चय में निषेध्य-निषेधक सम्बन्ध भी है।

निश्चय प्रतिपाद्य है और व्यवहार उसका प्रतिपादक है। इसीप्रकार व्यवहार निषेध्य है और निश्चय उसका निषेधक है।

समयसार में कहा है :–

"एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥[2]

इसप्रकार निश्चयनय द्वारा व्यवहारनय निषिद्ध हो गया जानो। निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनिराज निर्वाण को प्राप्त होते हैं।"

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २५१-२५३

[2] समयसार, गाथा २७२

इस सम्बन्ध में पंचाध्यायीकार के विचार भी दृष्टव्य हैं, जो इसप्रकार हैं :–

व्यवहारः प्रतिषेध्यस्तस्य प्रतिषेधकश्च परमार्थः ।
व्यवहारप्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात् ।।

व्यवहारः स यथा स्यात् सद् द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवो वा ।
नेत्येतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपतिः ।।[1]

व्यवहारनय प्रतिषेध्य (निषेध करने योग्य) है और निश्चयनय उसका निषेधक अर्थात् निषेध करने वाला है । अतः व्यवहार का प्रतिषेध करना ही निश्चयनय का वाच्य है ।

जैसे द्रव्य सद्‌रूप है और जीव ज्ञानवान है ऐसा कथन व्यवहारनय है और 'न' इस पद द्वारा निषेध करना ही निश्चयनय है, जो कि सब नयों में मुख्य है, नयाधिपति है ।"

जब व्यवहार निश्चय का प्रतिपादक है तो वह निश्चय का विरोधी कैसे हो सकता है ? जहाँ एक ओर यह बात है; वहीं दूसरी ओर यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि यदि निश्चय-व्यवहार में विरोध नहीं है तो फिर निश्चय व्यवहार का निषेध क्यों करता है ?

गम्भीरता से विचार करें तो इसमें अनुचित लगने जैसी कोई बात नहीं है; क्योंकि इसप्रकार की स्थितियाँ लोक में भी देखने में आती हैं ।

शतरंज के दो खिलाड़ी हैं । उन्हें आप मित्र कहेंगे या विरोधी ? वे परस्पर पूरक भी हैं और प्रतिद्वन्द्वी भी । पूरक इसलिए कि दूसरे के बिना खेल ही नहीं हो सकता; प्रतिद्वन्द्वी बिना, खेले किससे ? अतः शतरंज के खेल में प्रतिद्वन्द्वी पूरक ही तो है । जब वह प्रतिद्वन्द्वी है, तो विरोधी ही है; क्योंकि विरोधी ही तो प्रतिद्वन्द्वी होता है । पूरक होने से मित्र भी है, क्योंकि मित्र ही तो आपस में खेलते हैं, शत्रुओं से खेलने कौन जाता है ?

इसप्रकार हम देखते हैं कि शतरंज के दो खिलाड़ी परस्पर मित्र भी हैं और विरोधी भी ।

आप कह सकते हैं कि यह कैसे हो सकता है कि एक ही व्यक्ति एक साथ हमारा मित्र भी हो और शत्रु अर्थात् विरोधी भी । पर अपेक्षा ध्यान में रखकर गहराई से विचार करेंगे तो सब-कुछ स्पष्ट हो जावेगा ।

[1] पंचाध्यायी, अ० १, श्लोक ५९८-५९९

जीवन में वे दोनों मित्र ही नहीं, घनिष्ठ मित्र हैं। उनमें ऐसी मित्रता देखी जा सकती है कि एक दूसरे के पीछे जान की भी बाजी लगा सकता है; पर खेल में प्रतिद्वन्द्वी-विरोधी शत्रु भी ऐसे कि चाहे जान चली जाए पर सामने वाले के बादशाह को शह दिये बिना न मानेंगे; प्यादे को ही नहीं, वजीर को भी मारे बिना न रहेंगे। जीवन में वे एक दूसरे को क्षमा कर सकते है, पर खेल में नहीं; खेल में तो उसे हराने की निरन्तर जी-जान से कोशिश करते हैं। न करें तो फिर खेल में वह आनन्द न आवेगा जो आना चाहिए।

खेल में खेल के प्रति ईमानदार, खेल के पक्के; और जीवन में जीवन के प्रति ईमानदार, जीवन के पक्के – जैसे दो खिलाड़ी होते हैं; वैसे जिन-वाणी में भी दोनों नय अपने-अपने विषय के पक्के हैं। जिसका जो विषय है, उसे वे अपना-अपना विषय बनाते हैं। विषयगत विरोध के कारण वे परस्पर विरोधी भी हैं और सम्यक्-श्रुतज्ञान के भेद होने से अभिन्न साथी भी। दोनों ही अपने काम के पक्के है, अपने-अपने काम पूरी ईमानदारी से बखूबी निभाते हैं।

व्यवहार का काम भेद करके समझाना है, संयोग का भी ज्ञान कराना है; सो वह अभेद – अखण्ड वस्तु में भेद करके समझाता है, संयोग का ज्ञान कराता है; पर भेद करके भी वह समझाता तो अभेद – अखण्ड को ही है, संयोग से भी समझाता असंयोगी तत्त्व को ही है; तभी तो उसे निश्चय का प्रतिपादक कहा जाता है। यदि वह अभेद, अखण्ड, असंयोगी तत्त्व को न समझावे तो उसे निश्चय का प्रतिपादक कौन कहे ?

और निश्चय का काम व्यवहार का निषेध करना है; निषेध करके अभेद, अखण्ड, असंयोगी तत्त्व की ओर ले जाना है। यही कारण है कि वह अपने विरोधी प्रतीत होने वाले अभिन्न-मित्र व्यवहार का भी बड़ी निर्दयता से निषेध कर देता है। साथी समझकर किंचित् मात्र भी दया नहीं दिखाता; यदि दिखावे तो अपने कर्त्तव्य का पालन कैसे करे ?

यदि वह व्यवहार का निषेध न करे तो निश्चय के विषयभूत शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे हो, आत्मा का अनुभव कैसे हो ? आत्मानुभूति की प्राप्ति के लिए ही तो यह सब प्रयास है। 'व्यवहार तो हमारा मित्र है – उसका निषेध कैसे करें ?' यदि इस विकल्प में उलझ जावे तो फिर उसका भूतार्थपना ही नहीं रहेगा।

निश्चय व्यवहार का निषेध कोई द्वेष के कारण थोड़े ही करता है; वह निषेध्य है, इसलिए निषेध करता है। उसकी सार्थकता ही उसके

निषेध में है। उसका प्रयोग भी साबुन की भाँति निषेध के लिए ही होता है।

जिसप्रकार साबुन लगाए बिना कपड़ा साफ नहीं होता और साबुन लगी रहने पर भी कपड़ा साफ नहीं होता; साबुन लगाकर धोने से कपड़ा साफ होता है। साबुन लगाया ही धोने के लिए जाता है, उसकी सार्थकता ही लगाकर धो डालने में है। यह कोई नहीं कहता कि जब साबुन ने आपके कपड़े को साफ कर दिया तो अब उसे भी क्यों निकालते हो ?

उसीप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन नहीं होता और व्यवहार के निषेध बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं होती। निश्चय के प्रतिपादन के लिए व्यवहार का प्रयोग अपेक्षित है और निश्चय की प्राप्ति के लिए व्यवहार का निषेध आवश्यक है। यदि व्यवहार का प्रयोग नहीं करेंगे तो वस्तु हमारी समझ में नहीं आवेगी, यदि व्यवहार का निषेध नहीं करेंगे तो वस्तु प्राप्त नहीं होगी।

व्यवहार का प्रयोग भी जिनवाणी में प्रयोजन से ही किया गया है और निषेध भी प्रयोजन से ही किया गया है। जिनवाणी में बिना प्रयोजन एक शब्द का भी प्रयोग नहीं होता। लोक में भी बिना प्रयोजन कौन क्या करता है ? कहा भी है :–

"प्रयोजनमनुद्दिश्य मंदोऽपि न प्रवर्त्तते।

प्रयोजन के बिना तो मन्द से मन्द बुद्धि भी प्रवृत्ति नहीं करता, फिर बुद्धिमान लोग तो करेंगे ही क्यों ?"

समस्त जिनवाणी ही एक आत्मप्राप्ति के उद्देश्य से लिखी गई है। इसी उद्देश्य से निश्चय और व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक एवं व्यवहार और निश्चय में निषेध्य-निषेधक सम्बन्ध माना गया है।

यद्यपि निश्चय और व्यवहार का स्वरूप परस्पर विरोध लिए-सा है तथापि निश्चयरूप अभेद को भेद करके तथा असंयोगी को संयोग द्वारा प्रतिपादन करनेवाला व्यवहार जगत को निश्चय का विरोधी-सा नहीं लगता, क्योंकि वह निश्चय का प्रतिपादन करता है न ? किन्तु जब निश्चय अपने ही प्रतिपादक व्यवहार का निर्दयता से निषेध करता है तो जगत को खटकता है, क्योंकि व्यवहार का निश्चय-प्रतिपादकत्व और अभूतार्थत्व – ये दोनों एकसाथ जगत के गले आसानी से नहीं उतरते।

जब व्यवहार निश्चय अर्थात् भूतार्थ का प्रतिपादक है तो फिर स्वयं अभूतार्थ कैसे हो सकता है ? यदि स्वयं अभूतार्थ है तो वह भूतार्थ

(निश्चय) का प्रतिपादन कैसे कर सकता है ? अर्थात् अभूतार्थ व्यवहार द्वारा प्रतिपादित निश्चय भूतार्थ कैसे हो सकता है ?

दूसरे जब व्यवहारनय निश्चयनय का प्रतिपादन करता है तो फिर निश्चयनय उसका निषेध क्यों करता है ? अपने प्रतिपादक का निषेध करना कहाँ तक उचित है ? निश्चय के प्रतिपादन के लिए पहले व्यवहार को स्थापित करें और अपना काम हो जाने पर उसे असत्यार्थ कहकर निषेध कर दें – यह कुछ ठीक नहीं लगता। यदि वह असत्यार्थ है तो उसकी स्थापना क्यों ? और यदि सत्यार्थ है तो फिर उसका निषेध क्यों ?

ये कुछ प्रश्न हैं, शंकाऐं हैं; जिनका उत्तर जगत चाहता है। जब तक ये प्रश्न अनुत्तरित रहेंगे, इनका समुचित समाधान जगत को प्राप्त नहीं होगा, तबतक गुत्थी सुलझनेवाली नहीं है।

इन प्रश्नों के समुचित उत्तर का अभाव भी निश्चय-व्यवहार संबंधी वर्तमान द्वन्द्व का एक कारण है। इसलिए यहाँ इस विषय को विस्तार से सोदाहरण स्पष्ट करने का प्रयास किया जाना अपेक्षित है।

बादाम के पेड़ को भी बादाम कहते हैं, बादाम की मींगी भी बादाम कही जाती है, तथा छिलके सहित मींगी को तो बादाम कहा ही जाता है।

इसमें जो बादाम हमारे लिए उपयोगी है, वह तो वस्तुतः मींगी ही है। हमारी दृष्टि में तो वही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि हमारा प्रयोजन तो उससे ही सधता है। बादाम का छिलका व बादाम का पेड़ हमारे लिए साक्षात् किसी काम के नहीं। बादाम की मींगी प्रयोजनभूत होने से हमारे लिए भूतार्थ है और छिलका और पेड़ अप्रयोजनभूत होने से अर्थात् साक्षात् प्रयोजनभूत न होने से अभूतार्थ हैं।

उसीप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति के लिए शुद्धात्मा का अनुभव करना हमारा मूल प्रयोजन है, अतः शुद्धात्मा हमारे लिए प्रयोजनभूत हुआ। इसीलिए शुद्धात्मा को विषय करनेवाला निश्चयनय भूतार्थ है। संयोग व संयोगीभावादि के अनुभव से सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति का प्रयोजन सिद्ध न होने से वे अप्रयोजनभूत ठहरे। इसीकारण उन्हें विषय बनानेवाला व्यवहारनय भी अभूतार्थ कहा गया है।

'भूतार्थ को निश्चय और अभूतार्थ को व्यवहार कहते हैं' – इसके अनुसार मींगी निश्चय-बादाम हुई तथा छिलका और पेड़ व्यवहार-बादाम कहलाये।

इसी बात को यदि और अधिक स्पष्ट करें तो कथन इसप्रकार होगा। निश्चय से मींगी को बादाम कहते हैं और व्यवहारनय से पेड़ या छिलके को भी बादाम कहा जाता है, क्योंकि पेड़ या छिलका मींगी के सहचारी हैं।

यदि उनका मींगी से किसी भी प्रकार का संबंध न हो तो फिर वे व्यवहार से भी बादाम नहीं कहे जा सकते थे। क्या कोई आम के पेड़ और छिलकों को भी बादाम कहते देखा जाता है?

इसीप्रकार निश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मा को निश्चयजीव और व्यवहारनय के विषयभूत शरीरादि के संयोग में रहने वाले जीव – मनुष्यादि को व्यवहारजीव कहा जाता है। यदि आत्मा का शरीरादि से संयोगादि संबंध भी न हो तो उन्हें कोई व्यवहार से भी जीव नहीं कहेगा। क्या कोई मिट्टी की मूर्त्ति को भी जीव कहते देखा जाता है?

"भूतं अर्थं प्रद्योतयति इति भूतार्थः, अभूतं अर्थं प्रद्योतयति इति अभूतार्थः"

भूत अर्थात् प्रयोजभूत अर्थ को बतावे, वह भूतार्थ और अभूत अर्थात् अप्रयोजनभूत अर्थ को बतावे, वह अभूतार्थ।

भूतार्थ का अर्थ प्रयोजनभूत किसी भी प्रकार अनुचित नहीं है, क्योंकि अर्थ शब्द का अर्थ प्रयोजन भी होता है। भूत+अर्थ इनके स्थान-परिवर्तन से अर्थ+भूत=अर्थभूत हुआ। अर्थ माने प्रयोजन होता है, अतः अर्थभूत माने प्रयोजनभूत सहज हो जाता है।

जिसप्रकार भूत और अभूत की उक्त व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ बादाम की मींगी हमारे लिए प्रयोजनभूत पदार्थ है, क्योंकि वह हमारे खाने के काम आती है; पर छिलका और पेड़ अप्रयोजनभूत अर्थात् साक्षात् प्रयोजनभूत नहीं हैं, क्योंकि वे हमारे खाने के काम में नहीं आते; किन्तु सर्वथा अप्रयोजनभूत भी नहीं हैं, क्योंकि बादाम की मींगी की प्राप्ति के साधन हैं, अतः परम्परा से प्रयोजनभूत भी हैं।

यही कारण है कि परम्परा की अपेक्षा उसे कथंचित् भूतार्थ भी कहा जाता है, किन्तु साक्षात् प्रयोजनभूत न होने से अध्यात्म में उसे प्रायः अप्रयोजनभूत ही कहा जाता है।

उसीप्रकार यद्यपि शुद्धात्मा हमारे लिए पूर्णतः प्रयोजनभूत है और अशुद्धात्मा या संयोगी-आत्मा अप्रयोजनभूत है; तथापि संसारी जीव की पहिचान का प्रयोजन सिद्ध करने के कारण अशुद्धात्मा या संयोगी-आत्मा

भी कथंचित् प्रयोजनभूत है। फिर भी शुद्धात्मा की प्राप्ति का कारण न होने से अध्यात्म में उसे अप्रयोजनभूत ही कहा जाता है।

यदि बिना पेड़ या छिलके के जगत में मींगी की प्राप्ति संभव होती तो पेड़ और छिलके को व्यवहार से भी बादाम नहीं कहा जाता। पेड़ और छिलके को व्यवहार से बादाम कहे जाने के कारण यदि वैद्यजी के यह बताए जाने पर कि ताकत के लिए बादाम का हलवा खाना चाहिए, कोई छिलके या पेड़ का हलवा खाने की बात सोचे तो मूर्ख ही माना जाएगा। जगत में ऐसी मूर्खता कोई न करे, इसलिए व्यवहार के कथन के प्रति सावधान करना भी आवश्यक है, उसका निषेध करना भी आवश्यक है।

उसीप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन संभव होता तो व्यवहार को कथंचित् भूतार्थ भी नहीं कहा जाता, उसे जिनवाणी में स्थान भी प्राप्त नहीं होता; तथा यदि शरीरादि के संयोगवाले जीवों का कथन किये बिना ही इस अनादिकालीन अज्ञानी को आत्मा समझाया जा सकता होता तो फिर असमानजातीय द्रव्य पर्यायवाले जीव को जीव कहते ही नहीं।

शरीरादि के संयोगवाले संसारीजीव को भी व्यवहार से जीव कहे जाने के कारण और सद्गुरु के यह कहने पर कि यदि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करना है तो आत्मा का अनुभव करो – कोई रागी-द्वेषी मनुष्यादिरूप आत्मा का अनुभव करने से सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति मानने लगे तो मूर्ख ही माना जाएगा। तथा जगत में कोई ऐसी मूर्खता न करे – इसके लिए व्यवहार कथन को अभूतार्थ कहकर उसका निषेध भी आवश्यक है।

यही कारण रहा है कि निश्चयनय व्यवहारनय का निषेधक है, उसे अभूतार्थ कहकर उसका निषेध करता है।

समयसार की १४वीं गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्रजी ने पाँच उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया है कि पर्यायस्वभावादि के समीप जाकर देखने पर व्यवहारनय के विषयभूत बद्धस्पृष्टादि भाव भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं; पर निश्चयनय के विषयभूत द्रव्यस्वभाव के समीप जाकर देखने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

बादाम की मींगी जब अकेली होती है तो सवा-सौ रुपया किलो बिकती है और जब छिलके भी साथ होते हैं तो वह पच्चीस-तीस रुपये किलो में भी मुश्किल से बिकती है। इसप्रकार छिलके की संगति में उसकी कीमत घट जाती है, और एकाकीपने में बढ़ जाती है। तथा छिलका मींगी के साथ रहने पर पच्चीस-तीस रुपया किलो बिक जाता है, पर यदि वह

अकेला हो तो कोई रुपया किलो लेने को भी तैयार नहीं होता। इसप्रकार हम देखते हैं कि छिलके की कीमत मींगी के साथ रहने में ही है, अकेले में नहीं।

उसीप्रकार व्यवहार की कीमत भी निश्चय के प्रतिपादकत्व में ही है, निश्चयपूर्वक अर्थात् निश्चय के साथ होने में ही है, अकेले में नहीं। निश्चय का साधक – प्रतिपादक होने से ही उसे जिनवाणी में स्थान प्राप्त है। किन्तु निश्चय की कीमत व्यवहार की संगति में घट जाती है और अकेले में बढ़ जाती है; यही कारण है कि निश्चय व्यवहार का निषेध करता है, निषेधक है।

यहाँ एक बात यह भी जान लेने योग्य है कि बादाम का छिलका यदि मींगी के संयोग में पच्चीस-तीस रुपया किलो बिक जाता है, तो वह कीमत उसे कुछ मुफ्त में नहीं मिल गई है, उसने उसकी पूरी-पूरी कीमत चुकाई है। सर्दी, गर्मी, बरसात सब-कुछ अपने माथे पर झेली है, और भीतर मींगी को पूर्ण सुरक्षित रखा है, उसे आँच तक नहीं आने दी है। सारी विपत्तियाँ अपने माथे पर झेलकर मींगी को पूर्ण सुरक्षा प्रदान की है। अपना कर्त्तव्य पूरी तरह निभाया है। यहाँ तक कि जान की बाजी लगाकर मींगी की सुरक्षा की है। छिलके की प्रतिज्ञा है कि जबतक वह साबुत है तबतक मींगी का कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता, खा नहीं सकता; खाना-बिगाड़ना तो बहुत दूर, उसे कोई छू भी नहीं सकता। यदि कोई चोट करता है तो छिलका पहले अपने माथे पर झेलता है; चाहे स्वयं टूट जावे, फूट जावे; पर जबतक वह अटूट है – अफूट है, समझिये मींगी सुरक्षित है।

इतनी कीमत चुकाने पर उसे कीमत मिली है, उसे आप मुफ्त की क्यों समझते हैं ?

उसीप्रकार व्यवहार ने अपनी पूरी शक्ति से निश्चय का प्रतिपादन किया है, भले ही निश्चय उसका निर्दयतापूर्वक निषेध करता रहा, पर उसने अपने निश्चयप्रतिपादकत्व स्वभाव को नहीं छोड़ा, तब कहीं जाकर उसे जिनवाणी में स्थान प्राप्त हुआ है।

ऐसी बात सुनकर कुछ लोग कहते हैं कि यदि यह बात है, व्यवहार इतना वफादार है, तो फिर उसका निषेध क्यों ?

भाई ! उसकी सार्थकता उसके निषेध में ही है, क्योंकि यदि उसका निषेध न हो तो वह अपने काम में भी सफल नहीं हो सकता है।

क्यों, कैसे ?

जैसे कि हमारी दृष्टि से बादाम के पेड़ का लगाना, उसे सींचना, बड़ा करना आदि सम्पूर्ण मेहनत बादाम की मींगी अर्थात् निश्चय-बादाम के सेवन के लिए ही तो है; पर यदि इस लोभ से कि जब छिलके ने मींगी की सुरक्षा के लिए इतनी कुर्बानी दी, इतनी वफादारी निभाई है, तो फिर उसे तोड़ें क्यों, फोड़ें क्यों ? – ऐसा सोचकर उसे तोड़ें नहीं तो क्या बादाम का सेवन अर्थात् हलुवा बनाकर खाना संभव होगा ?

नहीं, कदापि नहीं ।

तो फिर जो कुछ भी हो, सम्पूर्ण मेहनत की सार्थकता इसमें ही है कि परिपक्वावस्था में पहुँच जाने पर छिलके को तोड़ दिया जाय, फोड़ दिया जाय; तभी जाकर बादाम का हलुवा खाया जा सकता है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि उसे पूर्णतः पक जाने पर ही फोड़ा जाए, यदि कच्ची या अधपकी फोड़ दी तो वह लाभ प्राप्त नहीं होगा, जो हम चाहते हैं। यह भी हो सकता है कि लाभ के स्थान पर हानि भी हो जावे ।

इसीप्रकार जिनवाणी और उसमें बताये मार्ग पर चलकर सुख-शांति प्राप्त करने के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि बादाम के छिलके को तोड़ने के समान व्यवहार का भी निषेध करें, अन्यथा व्यवहार द्वारा प्रतिपादित निश्चय के विषयभूत अर्थ की प्राप्ति नहीं हो सकेगी अर्थात् आत्मा का अनुभव नहीं हो सकेगा और हम व्यवहार में ही अटक कर रह जावेंगे। यदि व्यवहार के उपकार याद कर करके हम उसका निषेध न कर पाये तो विकल्पों में ही उलझे रहेंगे, विकल्पातीत नहीं हो सकेंगे।

हाँ, यह बात अवश्य है कि व्यवहार का निषेध व्यवहारातीत होने के लिए परिपक्वावस्था में ही होता है, पहले नहीं। यदि पहले करने जावेंगे तो न इधर के रहेंगे, न उधर के। परिपक्वावस्था माने वृद्धावस्था नहीं, अपितु व्यवहार द्वारा परिपूर्ण प्रतिपादन होने के बाद निश्चय की प्राप्ति होना – लेना चाहिए।

जैसे नाव में बैठे बिना नदी पार होंगे नहीं और नाव में बैठे-बैठे नदी पार होंगे नहीं। नाव में नहीं बैठेंगे तो रहेंगे इस पार और नाव में बैठे रहेंगे तो रहेंगे मँझधार। नदी पार करने के लिए नाव में बैठना भी होगा और नाव को छोड़ना भी होगा अर्थात् नाव में से उतरना भी होगा।

उसीप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय समझा नहीं जा सकता और व्यवहार को छोड़े बिना निश्चय पाया नहीं जा सकता। निश्चय को समझने

के लिए व्यवहार को अपनाना होगा और निश्चय को पाने के लिए व्यवहार को छोड़ना भी होगा।

किन्तु ध्यान रहे कहीं ऐसा न हो कि नाव के उसपार पहुँचे बिना ही आप नाव को छोड़ दें, नाव से उतर जावें – यदि ऐसा हुआ तो समझिये नदी की धार में बहकर समुद्र में पहुँच जावेंगे।

उसीप्रकार यदि व्यवहार द्वारा वस्तु का पूर्ण निर्णय किये बिना ही, निश्चय के किनारे पर पहुँचे बिना ही, यदि आपने उसे छोड़ दिया तो निश्चय की प्राप्ति तो होगी नहीं, व्यवहार से भी भ्रष्ट हो जावेंगे और संसार-समुद्र में डूबने के अतिरिक्त कोई राह न रहेगी।

अतः व्यवहार कब छोड़ना ? इसका ध्यान रखना बहुत जरूरी है। तथा कहीं हम व्यवहार को अस्थान में ही न छोड़ दें – इस भय से, 'वह छोड़ने योग्य है' – यह समझने के लिए तैयार ही नहीं होना भी कम मूर्खता नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में व्यवहार का निषेध ही है स्वभाव जिसका, ऐसे निश्चय का स्वरूप न समझ पाने के कारण उसके विषयभूत अर्थ की प्राप्ति कैसे होगी ?

जिनवाणी में जो निश्चय-व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक और व्यवहार-निश्चय में निषेध्य-निषेधक सम्बन्ध बताया गया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मार्मिक है, उसमें कोई विरोधाभास नहीं है। अतः उसके मर्म को गहराई से समझने का यत्न किया जाना चाहिए।

यद्यपि अभूतार्थ होने पर भी निश्चय का प्रतिपादक होने से व्यवहार को जिनवाणी में स्थान प्राप्त हो गया है; तथापि अभूतार्थ होने से उसका फल संसार ही है। यही कारण है कि निश्चय उसका निर्दयता से निषेध करता है।

पण्डितप्रवर जयचन्दजी छाबड़ा शुद्धनय के उपदेश की प्रधानता का औचित्य सिद्ध करते हुए समयसार गाथा ११ के भावार्थ में लिखते हैं :–

"प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल से ही है और इसका उपदेश भी बहुधा सर्वप्राणी परस्पर करते हैं, और जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्बन (सहायक) जानकर बहुत किया है; किन्तु उसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है – वह कहीं-कहीं पाया जाता है। इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि 'शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है;

इसका आश्रय लेने से सम्यक्दृष्टि हो सकता है; इसे जाने बिना जबतक जीव व्यवहार में मग्न है तबतक आत्मा का ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चय-सम्यक्त्व नहीं हो सकता।' – ऐसा आशय समझना चाहिए।"

यद्यपि यहाँ निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय के निषेध की ही चर्चा की गई है तथापि शुद्धस्वरूप की प्राप्ति के काल में तो निश्चयनय के विकल्प (पक्ष) का भी अभाव हो जाता है, क्योंकि शुद्धात्मा की प्राप्ति नयपक्षरूप विकल्पों में उलझे व्यक्ति को नहीं, पक्षातीत – विकल्पातीत व्यक्ति को होती है।

व्यवहारनय के निषेध के बाद निश्चयनय का पक्ष (विकल्प) भी विलय को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि जबतक नयरूप विकल्प (पक्ष) रहता है, तब तक निर्विकल्प अनुभूति प्रगट नहीं होती।

समयसार की कथनशैली की चर्चा करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं :–

"इस ग्रंथ में पहले से ही व्यवहारनय को गौण करके और शुद्धनय को मुख्य करके कथन किया गया है। चैतन्य के परिणाम परनिमित्त से अनेक होते हैं, उन सबको आचार्यदेव पहले से ही गौण कहते आये हैं और उन्होंने जीव को शुद्ध चैतन्यमात्र कहा है। इसप्रकार जीवपदार्थ को शुद्ध, नित्य, अभेद, चैतन्यमात्र स्थापित करके अब कहते हैं कि जो इस शुद्धनय का भी पक्षपात (विकल्प) करेगा, वह भी उस शुद्धस्वरूप के स्वाद को प्राप्त नहीं करेगा।

अशुद्धनय की तो बात ही क्या है? किन्तु यदि कोई शुद्धनय का भी पक्षपात करेगा तो पक्ष का राग नहीं मिटेगा, इसलिए वीतरागता प्रगट नहीं होगी। पक्षपात को छोड़कर चिन्मात्रस्वरूप में लीन होने पर ही समयसार को प्राप्त किया जाता है।

इसलिए शुद्धनय को जानकर, उसका भी पक्षपात छोड़कर, शुद्ध-स्वरूप का अनुभव करके, स्वरूप में प्रवृत्तिरूप चारित्र प्राप्त करके, वीतराग दशा प्राप्त करना चाहिए।"[1]

ध्यान रहे यहाँ पक्ष या पक्षपात का अर्थ विकल्प है। नय का पक्ष छोड़ने का अर्थ नयसम्बन्धी विकल्प को तोड़ना है। वस्तु नयपक्षातीत है अर्थात् विकल्पातीत है – यह समझना चाहिए।

---

[1] समयसार कलश ७० का भावार्थ

समयसार की १४२वीं गाथा में आत्मा को पक्षातिक्रान्त कहा गया है। उसकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं :–

"'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसा जो विकल्प तथा 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसा जो विकल्प वे दोनों नयपक्ष हैं। जो उस नयपक्ष का अतिक्रम करता है (उसे उल्लंघन कर देता है, छोड़ देता है), वही समस्त विकल्पों का अतिक्रम करके स्वयं निर्विकल्प, एक विज्ञानघनस्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार होता है। यहाँ (विशेष समझाया जाता है कि) जो 'जीव में कर्मबद्ध है' ऐसा विकल्प करता है वह 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता, और जो 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसा विकल्प करता है वह भी 'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता; और जो यह विकल्प करता है कि 'जीव में कर्म बद्ध है और अबद्ध भी है' वह दोनों पक्षों का अतिक्रम न करता हुआ, विकल्प का अतिक्रम नहीं करता। इसलिए जो समस्त नयपक्ष का अतिक्रम करता है, वही समस्त विकल्प का अतिक्रम करता है; जो समस्त विकल्प का अतिक्रम करता है, वही समयसार को प्राप्त करता है – उसका अनुभव करता है।

भावार्थ :– 'जीव कर्म से बंधा हुआ है' तथा 'नहीं बंधा हुआ है' – यह दोनों नयपक्ष हैं। उनमें से किसी ने बन्धपक्ष ग्रहण किया, उसने विकल्प ही ग्रहण किया; किसी ने अबन्ध पक्ष लिया, तो उसने भी विकल्प ही ग्रहण किया; और किसी ने दोनों पक्ष लिये तो उसने भी पक्षरूप विकल्प का ही ग्रहण किया। परन्तु ऐसे विकल्पों को छोड़कर जो कोई भी पक्ष को ग्रहण नहीं करता, वही शुद्धपदार्थ का स्वरूप जानकर उसरूप समयसार को – शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। नयपक्ष को ग्रहण करना राग है, इसलिए समस्त नयपक्ष को छोड़ने से वीतराग समयसार हुआ जाता है।"

इसके तत्काल बाद ६९वें कलश में वे कहते हैं :–

"य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं
स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशांतचित्ता –
स्त एव साक्षादमृतं पिबंति॥

जो नयपक्षपात को छोड़कर सदा स्वरूप में गुप्त होकर निवास करते हैं और जिनका चित्त विकल्पजाल से रहित शान्त हो गया है, वे ही साक्षात् अमृत का पान करते हैं।

भावार्थ :– जबतक कुछ भी पक्षपात (विकल्प) रहता है तबतक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। जब नयों का सब पक्षपात दूर हो जाता है तब वीतराग दशा होकर स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती है, स्वरूप में प्रवृत्ति होती है और अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है।"

नयचक्र में कहा है कि नयों का प्रयोग विकल्पात्मक भूमिका में तत्त्वों का निर्णय करने के लिए ही होता है, आत्माराधना के समय नहीं। अनुभव के काल में तो नय सम्बन्धी सर्व विकल्प विलय को प्राप्त हो जाते हैं। उक्त कथन करने वाली गाथा इसप्रकार है :–

"तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आहारणसमये पच्चक्खो अणुहवो जह्मा ।।[1]

तत्त्वान्वेषण काल में ही आत्मा युक्तिमार्ग से अर्थात् निश्चय-व्यवहार नयों द्वारा जाना जाता है, परन्तु आत्मा की आराधना के समय वे विकल्प नहीं होते, क्योंकि उक्त समय तो आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष ही है।"

यहाँ यह बात बहुत सावधानी से समझने योग्य है कि यहाँ निश्चयनय का पक्ष छुड़ाया है, विकल्प छुड़ाया है; निश्चयनय का विषयभूत अर्थ नहीं। व्यवहारनय का मात्र पक्ष ही नहीं, उसका विषयभूत अर्थ भी छोड़ने योग्य है; पर निश्चयनय का मात्र पक्ष या विकल्प छोड़ना है, उसके विषयभूत अर्थ को तो ग्रहण करना है। निश्चयनय के विषयभूत अर्थ को ग्रहण करने में बाधक जानकर ही निश्चयनय के विकल्प (पक्ष) को भी छुड़ाया है।

ध्यान रहे शुद्धनय[2] शब्द का प्रयोग निश्चयनय के विकल्प के अर्थ में भी होता है और उसके विषयभूत अर्थ के अर्थ में भी। जहाँ निश्चयनय के पक्ष को छोड़ने की बात कही हो, समझना चाहिए कि उसके विकल्प को छुड़ाया जा रहा है; और जहाँ शुद्धनय के ग्रहण की बात कही हो वहाँ समझना चाहिए कि शुद्धनय के विषयभूत अर्थ की बात चल रही है। समयसार कलश १२२ से भी इस बात की पुष्टि होती है :–

"इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बंधस्तदत्यागात्तत्यागाद्बंध एव हि ।।

यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है, क्योंकि उसके अत्याग से बंध नहीं होता और त्याग से बंध होता है।"

---

[1] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा २६२

[2] शुद्धनय निश्चयनय का ही एक भेद है, जिसकी चर्चा आगे नय के भेदों में की जाएगी।

कविवर पं० बनारसीदासजी ने इस कलश का हिन्दी पद्यानुवाद इसप्रकार किया है :–

"यह निचोर या ग्रंथ को, यहै परम रस पोख।
तजै सुद्धनय बंध है, गहै सुद्धनय मोख॥"

व्यवहारनय का निषेध तो निश्चयनय करता ही है। साथ में स्वयं के पक्ष का भी निषेध कर आत्मा को पक्षातीत, विकल्पातीत, नयातीत कर देता है।

आचार्य देवसेन अपने 'नयचक्र' में निश्चयनय को पूज्यतम सिद्ध करते हुए लिखते हैं :–

"निश्चयनयस्त्वेकत्वे समुपनीय ज्ञानचैतन्ये संस्थाप्य परमानंदं समुत्पाद्य वीतरागं कृत्वा स्वयं निवर्तमानो नयपक्षातिक्रांतं करोति तमिति पूज्यतमः।[1]

निश्चयनय एकत्व को प्राप्त कराके ज्ञानरूपी चैतन्य में स्थापित करता है। परमानन्द को उत्पन्न कर वीतराग बनाता है। इतना काम करके वह स्वतः निवृत्त हो जाता है। इसप्रकार वह जीव को नयपक्ष से अतीत कर देता है। इसकारण वह पूज्यतम है।"

और भी देखिये :–

"यथा सम्यग्व्यवहारेण मिथ्याव्यवहारो निवर्तते तथा निश्चयेन व्यवहारविकल्पोऽपि निवर्तते। यथा निश्चयनयेन व्यवहारविकल्पोऽपि निवर्तते तथा स्वपर्यवसितभावेनैकत्वविकल्पोऽपि निवर्तते। एवं हि जीवस्य योऽसौ स्वपर्यवसितस्वभाव स एव नय पक्षातीतः।[2]

जिसप्रकार सम्यक्व्यवहार से मिथ्याव्यवहार की निवृत्ति होती है; उसीप्रकार निश्चयनय से व्यवहार के विकल्पों की भी निवृत्ति हो जाती है। जिसप्रकार निश्चयनय से व्यवहार के विकल्पों की निवृत्ति होती है; उसीप्रकार स्वपर्यवसित[3] भाव से एकत्व का विकल्प[4] भी निवृत्त हो जाता है। इसप्रकार जीव का स्वपर्यवसितस्वभाव ही नयपक्षातीत है।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि जबतक नयविकल्प चलता रहता है तबतक आत्मा परोक्ष ही रहता है, वह प्रत्यक्षानुभूति का विषय नहीं बन

[1] श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ ३२
[2] वही, पृष्ठ ६६–७०
[3] अनुभवगम्य
[4] 'निश्चयनय से आत्मा एक है, शुद्ध है' – ऐसा निश्चयनय संबंधी विकल्प

पाता । तथा जबतक वह प्रत्यक्ष अनुभव में नहीं आ जाता तबतक उसके पक्षों को जानने के विकल्प उठना स्वाभाविक ही है । उन विकल्पों के समाधान हेतु ही नयों की प्रवृत्ति होती है । कहा भी है :–

"एवमात्मा यावद्व्यवहारनिश्चयाभ्यां तत्वमनुभवति तावत्परोक्षानुभूतिः । प्रत्यक्षानुभूतिर्नयपक्षातीता ।[1]

इसप्रकार आत्मा जबतक व्यवहार और निश्चय के द्वारा तत्त्व का अनुभव करता है, तबतक परोक्षानुभूति होती है, क्योंकि प्रत्यक्षानुभूति नयपक्षातीत होती है ।"

"यथा कश्चिद्देवदत्तोऽपूर्वान् परोक्षानश्वान् राज्ञे निवेदयति । स यथा राजा ह्रस्वदीर्घलोहितादिधर्मावबोधाय पौनःपुन्याद्विकल्प्य पृच्छति । तथा परोक्षार्थं श्रुतनिवेदिताऽनंतधर्मावबोधनाय विकल्पा भावंति ।[2]

जैसे – कोई देवदत्त नामक पुरुष राजा से अपूर्व – परोक्ष घोड़ों के बारे में चर्चा करता है । तब वह राजा उससे बड़ी ही उत्सुकता से – वे कैसे हैं – छोटे हैं या बड़े हैं ? उनका रंग कैसा है – लाल है क्या ? आदि उनके अनेक धर्मों – गुणों के बारे में बार-बार विकल्प उठाकर पूछता है; उसीप्रकार परोक्ष पदार्थ की चर्चा होने पर उसमें रहने वाले अनन्त धर्मों के बारे में विकल्प होते हैं, विकल्पों का होना स्वाभाविक ही है ।"

किन्तु जब वे घोड़े जिनकी चर्चा राजा ने देवदत्त से सुनी थी, राजा के सामने उपस्थित हो जावें तब सब-कुछ प्रत्यक्ष स्पष्ट हो जाने से विकल्पों का शमन सहज हो जाता है; उसीप्रकार जब आत्मा अनुभव में प्रत्यक्ष आ जाता है. तब नयरूप विकल्पों का शमन हो जाना स्वाभाविक है, सहजसिद्ध है । यही कारण है कि प्रत्यक्षानुभूति नयपक्षातीत–विकल्पातीत होती है ।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब प्रत्यक्षानुभूति नयपक्षातीत है और सुखी होने के लिए एक प्रत्यक्षानुभूति ही उपादेय है, विकल्पजाल में उलझने से कोई लाभ नहीं है, तो फिर हमें निश्चयनय और व्यवहारनय के विकल्पजाल में क्यों उलझाते हो ?

यदि हम नयों के स्वरूप को जाने बिना ही नयपक्षातीत हो जाते हैं तो फिर नयों के विस्तार में जाने की क्या आवश्यकता है ? भगवान महावीर के जीव ने शेर की पर्याय में और पार्श्वनाथ भगवान के जीव ने हाथी की

---

[1] श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ ३२
[2] वही, पृष्ठ ३६

पर्याय में आत्मानुभूति प्राप्त की थी, प्रत्यक्षानुभूति की थी; तो क्या वे उस समय नयों के इस विस्तार को जानते थे ? नहीं, तो फिर आप हमें ही क्यों इस विस्तार में उलझाना चाहते हैं ? क्यों न हम भी शेर और हाथी के समान नयपक्षातीत हो जावें, विकल्पातीत हो जावें, आत्मानुभूति प्राप्त कर लें ? या फिर **'तुषमासं घोषन्तो'** वाले शिवभूति मुनिराज के समान अपने चरमलक्ष्य को प्राप्त कर लें।

कर लीजिए न, कौन रोकता है ?यदि आप कर सकते हैं तो अवश्य कर लीजिए। उपादेय तो प्रत्यक्षानुभूति, निर्विकल्प-अनुभूति ही है, नय-विकल्प नहीं। नयों का स्वरूप तो प्रत्यक्षानुभूति में सहायक जानकर ही बताया जा रहा है, नयों के विकल्पों में ही उलझे रहने के लिए नहीं। नयचक्र में भी ऐसा ही कहा है, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है :–

"यद्यपि आत्मा स्वभाव से नयपक्षातीत है, तथापि वह आत्मा नयज्ञान के बिना पर्याय में नयपक्षातीत होने में समर्थ नहीं है। अर्थात् विकल्पात्मक नयज्ञान बिना निर्विकल्प (नयपक्षातीत) आत्मानुभूति संभव नहीं है, क्योंकि अनादिकालीन कर्मवश से यह असत्-कल्पनाओं में उलझा हुआ है। अतः सत्-कल्पनारूप अर्थात् सम्यक्-विकल्पात्मक नयों का स्वरूप कहते हैं।"[1]

आचार्य उमास्वामी ने भी तत्त्वार्थों के श्रद्धान को सम्यक्दर्शन कहा है तथा तत्त्वार्थों के अधिगम का उपाय प्रमाण और नयों को निरूपित किया है।[2]

"*नयदृष्टि से विहीन व्यक्ति को वस्तुस्वभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती और वस्तुस्वभाव की उपलब्धि बिना सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मानुभव कैसे हो सकता है ?*"

नयचक्रकार माइल्लधवल की उक्त उक्ति का उल्लेख भी आरंभ में किया ही जा चुका है।

फिर भी आप नयों और उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वरूप को समझे बिना ही आत्मानुभूति प्राप्त करने का आग्रह रखते हैं तो भले ही रखें।

हाँ, यह बात अवश्य है कि आप नयों के विस्तार में न जाना चाहें तो भले ही न जावें, पर उनका सामान्यरूप से सम्यक्ज्ञान तो करना ही होगा।

---

[1] श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ २६
[2] तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र २ एवं ६

आप शेर और हाथी की बात करते हैं ? सो भाई शेर और हाथी तो सात तत्त्वों, छह द्रव्यों, नव पदार्थों, पाँच भावों, चार अभावों, द्रव्य-गुण-पर्याय आदि के भी नामादिक तक नहीं जानते थे; पर आपने क्यों सीखे ? इनके नामादिक बिना जाने जैसे उन्होंने आत्मानुभव किया था, वैसे आप भी कर लेते। जैसे आपने सप्ततत्त्वादिक का ज्ञान किया, वैसे प्रमाण नयादिक का भी करना चाहिए। उनके समान ही ये भी उपयोगी हैं।

शेर और हाथी की पर्याय में उन्हें सप्ततत्त्वादिक के नामादिक का ज्ञान नहीं होने पर भी उनका भाव-भासन था; उसीप्रकार उन्हें नयादिक के भी नामादिक का ज्ञान न होने पर भी उनके विषय का भाव-भासन था, अन्यथा आत्मानुभूति संभव नहीं थी।

तत्त्वार्थों का भाव-भासन हो – इस प्रयोजन से जिसप्रकार आप उनके विस्तार में, उनकी गहराई में जाते हैं; उसीप्रकार नयों और उनके विषयभूत अर्थ का सही भाव-भासन हो – इसके लिए यदि समय हो तो बुद्धि के अनुसार इनकी भी गहराई में, इनके भी विस्तार में जाना अनुचित नहीं है।

यदि आप शिवभूति मुनिराज के समान चरम लक्ष्य को पा सकते हैं, तो अवश्य पालें। पर पा नहीं पा रहे हैं, इसलिए तो यह सब समझाया जा रहा है। विस्तार में उलझाने के लिए विस्तार से नहीं समझाया जा रहा है, अपितु सुलझाने के लिए ही यह सब प्रयत्न है। और यह यत्न मात्र हमारा नहीं, जिनवाणी में भी किया गया है। वस्तुस्वभाव के प्रकाशन के लिए ही नयचक्र का प्रयोग किया गया है, उलझाने के लिए नहीं। इसी बात को लक्ष्य में रखकर माइल्लधवल ने ग्रंथ का नाम ही 'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' रखा है।

भाई, राजमार्ग तो यही है कि हम निश्चय-व्यवहारनय का स्वरूप समझकर व्यवहारनय और उसके विषय छोड़कर तथा निश्चयनय के भी विकल्प को तोड़कर निश्चयनय की विषयभूत वस्तु का आश्रय लेकर नयपक्षातीत, विकल्पातीत आत्मानुभूति को प्राप्त करें। इस प्रयोजन से ही यह सब कथन किया गया है।

इसप्रकार यहाँ निश्चय और व्यवहार का स्वरूप, उनमें परस्पर सम्बन्ध, हेयोपादेय व्यवस्था, उनकी भूतार्थता, अभूतार्थता एवं नयपक्षातीत अवस्था की सामान्य चर्चा की। अब उनके भेद-प्रभेदों का कथन प्रसंगप्राप्त है।



निश्चय-व्यवहार : कुछ प्रश्नोत्तर

निश्चय-व्यवहार के भेद-प्रभेदों के विस्तार में जाने के पहले उनके सम्बन्ध में उठने वाले कुछ सहज प्रश्नों के सम्बन्ध में विचार कर लेना उचित होगा; क्योंकि इन आशंकाओं के बने रहने पर भेद-प्रभेदों के विस्तार में सहज जिज्ञासु का भी निश्शंक प्रवेश नहीं होगा। मुक्ति के मार्ग में नयों की उपयोगिता एवं उनके हेयोपादेयत्व का सही निर्णय न हो पाने की स्थिति में इनके विस्तार में जाने की जैसी रुचि और पुरुषार्थ जागृत होना चाहिए, वैसी रुचि और पुरुषार्थ जागृत नहीं होगा; जैसी निष्पक्ष दृष्टि बननी चाहिए, वैसी निष्पक्ष दृष्टि नहीं बनेगी।

इस बात को ध्यान में रखकर यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया जा रहा है।

(१) **प्रश्न** :– समयसार गाथा १२ की आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने एक गाथा उद्धृत की है, जो इसप्रकार है :–

"जइ जिरणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केरण विरणा छिज्जइ तित्थं अण्णेरण उरण तच्चं॥

यदि जिनमत को प्रवर्ताना चाहते हो तो निश्चय-व्यवहार में से एक को भी मत छोड़ो, क्योंकि एक (व्यवहार) के बिना तीर्थ का लोप हो जावेगा और दूसरे (निश्चय) के बिना तत्त्व का लोप हो जावेगा।"

जब समयसार में ऐसा कहा है तो फिर आप निश्चय-व्यवहार में भेद क्यों करते हैं, एक को हेय और दूसरे को उपादेय क्यों कहते हैं? जब दोनों नयों की एक-सी उपयोगिता और आवश्यकता है तो फिर उनमें भेद-भाव करना कहाँ तक ठीक है?

उत्तर :– भाई! हम क्या कहते हैं और उक्त गाथा का क्या भाव है? इसे ठीक से न समझ पाने के कारण ही यह प्रश्न उठता है। कुछ लोगों द्वारा जान-बूझकर भी उक्त गाथा का आधार देकर इस प्रश्न को कुछ इसतरह उछाला जाता है, प्रस्तुत किया जाता है कि जिससे समाज को ऐसा भ्रम उत्पन्न हो कि जैसे हम उक्त गाथा के भाव से सहमत नहीं हैं, तथा उक्त गाथा का अर्थ भी इसप्रकार प्रस्तुत किया जाता है जैसे यह गाथा व्यवहारनय को निश्चयनय के समान ही उपादेय प्रतिपादित कर

रही हो। जबकि ऐसी कोई बात नहीं है, यह गाथा तो निश्चय-व्यवहार की वास्तविक स्थिति को ही स्पष्ट करती है।

इसमें कहा गया है कि व्यवहार के बिना तीर्थ का लोप हो जावेगा और निश्चय के बिना तत्त्व का लोप हो जायेगा अर्थात् तत्त्व की प्राप्ति नहीं होगी। यहाँ तीर्थ का अर्थ उपदेश और तत्त्व का अर्थ शुद्धात्मा का अनुभव है। उपदेश की प्रक्रिया प्रतिपादन द्वारा सम्पन्न होती है, तथा प्रतिपादन करना व्यवहार का काम है, अतः व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ मानने से तीर्थ का लोप हो जावेगा—ऐसा कहा है। शुद्धात्मा का अनुभव निश्चयनय के विषयभूत अर्थ में एकाग्र होने पर होता है। अतः निश्चयनय को छोड़ने पर तत्त्व की प्राप्ति नहीं होगी अर्थात् आत्मा का अनुभव नहीं होगा—ऐसा कहा है। द्वादशांग जिनवाणी में व्यवहार द्वारा जो भी उपदेश दिया गया है, उसका सार एकमात्र आत्मा का अनुभव ही है। आत्मानुभूति ही समस्त जिनशासन का सार है।

इसप्रकार इस गाथा में यही तो कहा गया है कि उपदेश की प्रक्रिया में व्यवहारनय प्रधान है और अनुभव की प्रक्रिया में निश्चयनय प्रधान है।

आत्मा के अनुभव में व्यवहारनय स्वतः गौण हो गया है। इसलिए आत्मानुभव के अभिलाषी आत्मार्थी निश्चयनय के समान ही व्यवहार को उपादेय कैसे मान सकते हैं? व्यवहार की जो उपयोगिता है, वे उसे भी अच्छी तरह जानते हैं। ज्ञानीजन जब व्यवहारनय को हेय या असत्यार्थ कहते हैं, तो उसे गौण करके ही असत्यार्थ कहते हैं, अभाव करके नहीं—यह बात ध्यान में रखने योग्य है।

गाथा की प्रथम पंक्ति में कहा गया है कि यदि तुम जिनमत को प्रवर्तना चाहते हो तो व्यवहार-निश्चय को मत छोड़ो। 'प्रवर्तना' शब्द के दो भाव होते हैं—एक तो तीर्थ-प्रवर्तन और दूसरा आत्मानुभवन। तीर्थ-प्रवर्तन का अर्थ जिनधर्म की उपदेश-प्रक्रिया को निरन्तरता प्रदान करना है। अतः यदि जिनधर्म की उपदेश-प्रक्रिया को निरन्तरता प्रदान करना है तो वह व्यवहार द्वारा ही संभव होगा, अनिर्वचनीय या 'न तथा' शब्द द्वारा वक्तव्य निश्चयनय से नहीं; किन्तु जिनमत का वास्तविक प्रवर्तन तो आत्मानुभवन ही है। अतः आत्मानुभूतिरूप जिनमत का प्रवर्तन तो निश्चयनय के विषयभूत अर्थ में मग्न होने पर ही संभव है। यहाँ उपदेश के विकल्परूप व्यवहारनय को कहाँ स्थान प्राप्त हो सकता है?

तीर्थंकर भगवान महावीर का तीर्थ आज भी प्रवर्तित है, क्योंकि उनकी वाणी में निरूपित शुद्धात्मवस्तु का अनुभव ज्ञानीजन आज भी करते हैं – यह व्यवहार और निश्चय की अद्भुत संधि है। अनुभव की प्रेरणा की देशनारूप व्यवहार और अनुभवरूप निश्चय की विद्यमानता ही व्यवहार-निश्चय को नहीं छोड़ने की प्रक्रिया है, जिसका आदेश उक्त गाथा में दिया गया है।

दूसरे प्रकार से विचार करें तो मोक्षमार्ग की पर्याय को तीर्थ कहा जाता है तथा जिस त्रिकाली ध्रुव निज शुद्धात्मवस्तु के आश्रय से मोक्ष-मार्ग की पर्याय प्रगट होती है, उसे तत्त्व कहते हैं। अतः व्यवहार को नहीं मानने से मोक्षमार्गरूप तीर्थ और निश्चय को नहीं मानने से निज शुद्धात्म-तत्त्व के लोप का प्रसंग उपस्थित होगा।

इस संदर्भ में इस सदी के सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के विचार दृष्टव्य हैं :–

"जिनमत अर्थात् वीतराग अभिप्राय को प्रवर्तन कराना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को मत छोड़ो। 'व्यवहार नहीं है'– ऐसा मत कहो। व्यवहार है, किन्तु गाथा ११ में जो असत्य कहा है, वह त्रिकाल ध्रुव निश्चय की विवक्षा में गौण करके असत्य कहा है, बाकी व्यवहार है, मोक्ष का मार्ग है। व्यवहारनय न मानो तो तीर्थ का नाश हो जायेगा। चौथे, पाँचवें, छठवें आदि चौदह गुणस्थान जो व्यवहार के विषय हैं, वे हैं। मोक्ष का उपाय जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र हैं, वे व्यवहार हैं। चौदह गुणस्थान द्रव्य में नहीं हैं, यह तो ठीक, किन्तु पर्याय में भी नहीं हैं, ऐसा कहोगे तो तीर्थ का ही नाश हो जायेगा। तथा तीर्थ का फल जो मोक्ष और सिद्धपद है, उसका भी अभाव हो जायेगा। ऐसा होने पर जीव के संसार और सिद्ध – ऐसे जो दो विभाग पड़ते हैं, वह व्यवहार भी नहीं रहेगा।

भाई, बहुत गंभीर अर्थ है। भाषा तो देखो ! यहाँ मोक्षमार्ग की पर्याय को 'तीर्थ' कहा और वस्तु को 'तत्त्व' कहा है। त्रिकालीध्रुव चैतन्यघन वस्तु निश्चय है। उस वस्तु को जो नहीं मानेंगे तो तत्त्व का नाश हो जाएगा। और तत्त्व के अभाव में, तत्त्व के आश्रय से उत्पन्न हुआ जो मोक्षमार्गरूप तीर्थ, वह भी नहीं रहेगा। इस निश्चयरूप वस्तु को नहीं मानने से तत्त्व का और तीर्थ का दोनों का नाश हो जायेगा, इसलिए वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा यथार्थ मानना।

जब तक पूर्णता नहीं हुई, तब तक निश्चय और व्यवहार दोनों होते हैं। पूर्णता हो गई अर्थात् स्वयं स्वयं में पूर्ण स्थिर हो गया, वहाँ सभी प्रयोजन सिद्ध हो गये। उसमें तीर्थ व तीर्थफल सभी कुछ आ गया।"[1]

(२) प्रश्न :– अनुभव के काल में तो निश्चय और व्यवहार दोनों ही नहीं रहते हैं। अतः निश्चयनय को अनुभव से कैसे जोड़ा जा सकता है?

उत्तर :– हाँ, यह बात तो सही है कि अनुभव के काल में निश्चय और व्यवहार–दोनों नयों सम्बन्धी विकल्प नहीं रहते, पर व्यवहारनय के साथ-साथ व्यवहारनय के विषय का आश्रय भी छूट जाता है और निश्चयनय (शुद्धनय) का मात्र विकल्प छूटता है, विषय का आश्रय रहता है। निश्चय के विषय को भी निश्चय कहते हैं। इसी आधार पर कहा जाता है कि :-

"णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२७२॥[2]

निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनिराज निर्वाण को प्राप्त करते हैं।"

इसीकारण यह कहा जाता है कि निश्चयनय के छोड़ने पर तत्त्वोपलब्धि अर्थात् आत्मानुभव नहीं होगा। यही कारण है कि अनुभव नयातीत–विकल्पातीत होने पर भी निश्चयनय से जुड़ा हुआ है।

(३) प्रश्न :– समयसार में एक ओर तो अनुभव को नयपक्षातीत कहा है तथा दूसरी ओर यह भी कहा है कि निश्चयनय का आश्रय लेनेवाले मुनिराज ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं–इसका क्या कारण है?

उत्तर : – अनुभव को नयपक्षातीत कहने से आशय नय-विकल्प के अभाव से है। नयपक्षातीत अर्थात् नयविकल्पातीत। किन्तु जहाँ निश्चयनय के आश्रय से अनुभव होता है– यह कहा हो, वहाँ निश्चयनय का अर्थ निश्चयनय का विषयभूत अर्थ लेना चाहिए। आशय यह है कि अनुभव में निश्चयनय (परमशुद्धनिश्चयनय) के विषयभूत शुद्धात्मा का आश्रय तो रहता है, पर 'मैं शुद्ध हूँ', इसप्रकार का निश्चयनय संबंधी विकल्प नहीं रहता।

यह तो पहिले स्पष्ट किया ही जा चुका है कि निश्चय के दो अर्थ होते हैं, एक निश्चयनय सम्बन्धी विकल्प और दूसरा निश्चयनय का विषयभूत अर्थ।

[1] प्रवचनरत्नाकर भाग १ पृष्ठ १६२-१६३
[2] समयसार, गाथा २७२

(४) **प्रश्न** :– निश्चय-व्यवहार के भेद-प्रभेदों में जाने की क्या आवश्यकता है ? बस उनका, सामान्य स्वरूप जानलें और निश्चयनय के विषयभूत अर्थ में अपना उपयोग लगादें, क्योंकि साध्यसिद्धि तो उससे ही होने वाली है, विकल्पजाल में उलझने से तो कुछ लाभ है नहीं ?

उत्तर :– विकल्पजाल में उलझने से तो कोई लाभ नहीं है–बात तो ऐसी ही है, पर निश्चयनय और व्यवहारनय तो अनेक प्रकार के हैं, कौनसे निश्चयनय के विषय में दृष्टि को केन्द्रित करना है–इसका निर्णय लिये बिना किसमें दृष्टि केन्द्रित करोगे ?

दूसरी बात यह भी तो है कि जिनवाणी में जिस वस्तु को एक प्रसंग में निश्चयनय का विषय बताया जाता है, उसी वस्तु को अन्य प्रसंग में व्यवहारनय का विषय कह देते हैं। इसका सोदाहरण विशेष स्पष्टीकरण निश्चय और व्यवहार के भेद-प्रभेदों पर विचार करते समय विस्तार से करेंगे।

इसप्रकार जिनवाणी में प्रयुक्त नयचक्र अत्यन्त जटिल है, उसे गहराई से समझने के लिए उपयोग को थोड़ा सूक्ष्म बनाना होगा; अरुचि दिखाकर पिण्ड छुड़ाने से काम नहीं चलेगा। जब आत्मानुभव प्राप्त करने के लिए कमर कसी है, तो थोड़ा-सा पुरुषार्थ नय-कथनों के मर्म के समझने में भी लगाइये। जटिल नयचक्र को समझे बिना जिनवाणी के अवगाहन करने में कठिनाई तो होगी ही; साथ ही पद-पद पर शंकाएँ भी उपस्थित होंगी, जिनका निराकरण नय-विभाग के समझने पर ही संभव होगा।

समयसार की २६वीं गाथा में जब अप्रतिबुद्धशिष्य देह के माध्यम से की जानेवाली तीर्थंकरों की स्तुतियों से आत्मा और देह की एकता संबंधी आशंका प्रकट करता है, तो आचार्य यही उत्तर देते हैं कि तू नय-विभाग से अनभिज्ञ है–इसलिए ऐसी बात करता है। उसकी शंका का समाधान भी नय-विभाग समझाकर ही देते हैं और अन्त में कहते हैं :–

"नय-विभाग के द्वारा अच्छी तरह समझाये जाने पर भी ऐसा कौन मूर्ख होगा कि जिसको आत्मबोध नहीं होगा अर्थात् आत्मा का अनुभव नहीं होगा ? नय-विभाग से समझाये जाने पर योग्य पात्र को बोध की प्राप्त होती ही है।[1]"

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध ग्रंथराज नियमसार की तात्पर्यवृत्ति टीका समाप्त करते हुए पद्मप्रभमलधारीदेव कहते हैं :–

---

[1] समयसार, कलश २८

"जो लोग समस्त नयों के समूह से शोभित इस भागवत् शास्त्र को निश्चय और व्यवहारनय के अविरोध से जानते हैं, वे महापुरुष समस्त अध्यात्म शास्त्रों के हृदय को जानने वाले और शाश्वत सुख के भोक्ता होते हैं।"[1]

समयसार, नियमसार आदि आध्यात्मिक शास्त्रों में निश्चय-व्यवहार के अनेक भेद-प्रभेदों से कथन किया गया है। निश्चय-व्यवहार के भेद-प्रभेदों को जाने बिना इन आध्यात्मिक ग्रंथों के मर्म को पा लेना आसान नहीं है। अतः इनके अध्ययन में रुचि उत्पन्न कर इन्हें समझने का यत्न करना चाहिए।

(५) **प्रश्न** :– तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि नयचक्र जानना समयसार से भी अधिक आवश्यक है ? क्या नयचक्र समयसार से भी बड़ा है ?

उत्तर :– नहीं, समयसार तो ग्रंथाधिराज है, उससे बड़ा नयचक्र नहीं है। नयचक्र का जानना समयसार से भी अधिक आवश्यक तो नहीं है, पर समयसार का मर्म जानने के लिए नयों का स्वरूप जानना उपयोगी अवश्य है। समयसार ही क्या, समस्त जिनवाणी नयों की भाषा में निबद्ध है। अतः जिनवाणी के मर्म को जानने के लिए नयों का जानना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने तो समयसार की प्रशंसा '**इदमेकं जगच्चक्षु-रक्षयं**'[2] और '**न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति**'[3] कहकर की है। उनका कहना यह है कि समयसार जगत का अक्षयचक्षु है और इससे बढ़कर कुछ भी नहीं है।

नयचक्र इससे बढ़कर कैसे हो सकता है ? नयचक्र तो आचार्य कुन्दकुन्द के समयसारादि ग्रंथों का सार लेकर ही बनाया गया है। जैसा कि माइल्लधवल ने ग्रंथ के आरंभ में ही लिखा है। उनका कथन मूलतः इसप्रकार है :–

"श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत शास्त्रात् सारार्थं परिग्रह्य स्वपरोपकाराय द्रव्यस्वभावप्रकाशकं नयचक्रं.......।

[1] नियमसार, गाथा १८७ की टीका
[2] समयसार कलश, २४५
[3] वही, २४४

श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत शास्त्र से सारभूत अर्थ को ग्रहण करके अपने और दूसरों के उपकार के लिए 'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' नामक ग्रन्थ है........।"

आचार्य देवसेन ने तो अपना नयचक्र का आरंभ ही समयसार की गाथाओं से किया है। निश्चय-व्यवहार का स्वरूप बताने वाली तीन गाथाओं को देकर वे अपना नयचक्र आरंभ करते हुए लिखते हैं कि इन गाथाओं के भावार्थ पर विचार करते हैं। इसप्रकार पूरा ग्रन्थ ही उन गाथाओं के विचार में समाप्त हो गया है।

जितने भी नयचक्र नाम से अभिहित ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, वे सभी समयसारादि ग्रन्थों में प्रयुक्त नयों के विश्लेषण में ही समर्पित हैं। अतः उन्हें समयसार से भी बड़ा कहने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? उनकी रचना तो समयसार जैसे गूढ़ ग्रन्थों के रहस्योद्घाटन के लिए ही हुई है। वे तो समयसाररूपी महल के प्रवेशद्वार हैं, सीढ़ियाँ हैं; वे तो पथ हैं, पथिक के पाथेय हैं; प्राप्तव्य नहीं; प्राप्तव्य तो एकमात्र समयसार की विषयवस्तु समयसाररूपी शुद्धात्मा ही है।

समयसारादि ग्रंथों में पग-पग पर इसप्रकार के कथन आते हैं कि शुद्धनिश्चयनय से ऐसा है और अशुद्धनिश्चयनय से ऐसा; सद्भूतव्यवहारनय से ऐसा है और असद्भूतव्यवहारनय से ऐसा; यह उपचरितकथन है और यह अनुपचरित। यदि आप निश्चय-व्यवहार के भेद-प्रभेदों को नहीं जानेंगे तो यह सब कैसे समझ सकेंगे ?

अतः हमारा अनुरोध है कि थोड़ा समय विषय-कषायों के पोषण से निकालकर निश्चय-व्यवहार के भेद-प्रभेदों को समझने में लगाइये, बहाना न बनाइये, बुद्धि कम होने की बातें भी मत कीजिए; क्योंकि दुनियाँदारी में तो आप बहुत चतुर हैं। कुतर्कों द्वारा इनके अध्ययन का निषेध भी मत कीजिए। हम आपसे समयसार का अध्ययन छोड़कर इसे पढ़ने की नहीं कह रहे हैं, हम तो दुनियाँदारी के गोरख-धंधे से थोड़ा समय निकाल कर इसके अध्ययन में लगाने की प्रेरणा दे रहे हैं।

इसपर भी यदि आप इनका परिज्ञान नहीं करना चाहते तो मत करिये; पर इनके अध्ययन को निरर्थक बताकर दूसरों को निरुत्साहित तो न कीजिए। जिनवाणी की इस अद्भुत कथन-शैली के प्रचार-प्रसार में आपका इतना सहयोग ही हमें पर्याप्त होगा।

आप कह सकते हैं कि आपको इनका इतना अधिक रस क्यों है ? पर भाईसाहब ! जब जो प्रकरण चलता हो तब उसके अध्ययन की प्रेरणा देना तो लेखक का तथा वक्ता का कर्त्तव्य है, इसमें अधिक रस होने की बात कहाँ है ? हो भी तो समयसार का सार समझने-समझाने के लिए ही तो है। नयों का रस नयपक्षातीत होने के लिए है, नयों में उलझने-उलझाने के लिए नहीं। अधिक क्या ? समझनेवालों के लिए इतना ही पर्याप्त है।

अब यहाँ निश्चय-व्यवहार के भेद-प्रभेदों की चर्चा प्रसंग प्राप्त है।

तस्य देशना नास्ति

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा: देशयन्त्यभूतार्थम् ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ।।६।।

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य ।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ।।७।।

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्यतस्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ।।८।।

आचार्यदेव अज्ञानीजीवों को ज्ञान उत्पन्न करने के लिए अभूतार्थ व्यवहारनय का उपदेश देते हैं, परन्तु जो केवल व्यवहारनय ही का श्रद्धान करता है, उसके लिए उपदेश नहीं है।

जिसप्रकार जिसने यथार्थ सिंह को नहीं जाना है, उसके लिए बिलाव (बिल्ली) ही सिंहरूप होता है; उसीप्रकार जिसने निश्चय का स्वरूप नहीं जाना है, उसका व्यवहार ही निश्चयता को प्राप्त हो जाता है।

जो जीव व्यवहारनय और निश्चयनय के स्वरूप को यथार्थरूप से जानकर पक्षपातरहित होता है, वही शिष्य उपदेश का सम्पूर्णफल प्राप्त करता है।

— पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ६-७-८

निश्चयनय : भेद-प्रभेद

निश्चय और व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों की विविधता और विस्तार के चक्रव्यूह में प्रवेश करने के पूर्व जिनेन्द्र भगवान के नयचक्र को चलाने में व समझने में रुचि रखनेवाले आत्मार्थी जिज्ञासुओं से अबतक प्रतिपादित विषय का एक बार पुनरावलोकन कर लेने का सानुरोध आग्रह है। इससे उन्हें भेद-प्रभेदों की बारीकियों को समझने में सरलता रहेगी। अब अवसर आ गया है कि हम सरलता और सरसता का व्यामोह छोड़, नयचक्र की चर्चा कुछ अधिक गहराई से करें।

निश्चयनय यद्यपि अभेद्य है, भेद-प्रभेदों में भेदा जाना उसे सह्य नहीं है, तथापि जिनागम में समझने-समझाने के लिए उसके भी भेद किये गए हैं।

निश्चयनय के भेद क्यों नहीं हो सकते, यदि नहीं हो सकते तो फिर जिनागम में उसके भेद क्यों किए गए, कहाँ किये गए, कितने किए गए हैं, और सर्वज्ञ कथित जिनागम में यह विभिन्नता क्यों है ? आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनका समाधान विभिन्न कथनों के सकारण समन्वय के रूप में तथा जिनागम के परिप्रेक्ष्य में अपेक्षित है।

इस षट्-द्रव्यात्मक लोक में अनन्त वस्तुएँ हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – इन छह द्रव्यों में जीवद्रव्य अनन्त हैं, जीवों से अनन्तगुणे अनन्त अर्थात् अनन्तानन्त पुद्गल हैं। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं तथा कालद्रव्य असंख्यात हैं। छह तो द्रव्यों के प्रकार हैं, सब मिलाकर द्रव्य अनन्तानन्त हैं। वे अनन्तानन्त द्रव्य ही लोक की अनन्त वस्तुएँ हैं। वे सभी वस्तुएँ सामान्य-विशेषात्मक हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जगत की प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है।

ये सामान्य-विशेषात्मक वस्तुएँ ही प्रमाण की विषय है अर्थात् प्रमेय हैं, ज्ञान की विषय हैं अर्थात् ज्ञेय हैं[1]। इन्हें सम्यक् जाननेवाला ज्ञान ही प्रमाण है।[2] सम्यग्ज्ञान प्रमाण है और नय प्रमाण का एकदेश है–यह बात स्पष्ट की ही जा चुकी है।

---

[1] सामान्य-विशेषात्मातदर्थो विषयः। परीक्षामुख, अ० ४, सूत्र १

[2] सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं। न्यायदीपिका, अ० १, पृष्ठ ६

इसप्रकार प्रमाण का विषय सम्पूर्णवस्तु है और नय का विषय वस्तु का एकदेश अर्थात् अंश है।

जब सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को सामान्य और विशेष इन अंशों में विभाजित करके समझा जाता है, तो सामान्यांश को विषय करने वाला एक नय होता है और विशेषांश को विषय बनाने वाला दूसरा नय। प्रथम का नाम निश्चयनय है और दूसरे का नाम व्यवहारनय।

जिनागम में निश्चयनय को अनेक नामों से अभिहित किया गया है; जैसे – शुद्धनय, परमशुद्धनय, परमार्थनय, भूतार्थनय; पर यह अनेक प्रकार का नहीं है। इसके विषयभूत सामान्य के स्वरूप में जो अनेक विशेषताएं हैं, उनकी अपेक्षा ही इसे अनेक नाम दे दिए गए हैं। सामान्य को अभेद, निरुपाधि, द्रव्य, शक्ति, स्वभाव, शुद्धभाव, परमभाव, एक, परमार्थ, निश्चय, ध्रुव, त्रिकाली आदि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है।

सामान्य शुद्धभावरूप होता है, परमभावरूप होता है। अतः उसे विषय बनाने वाले नय को शुद्धनय, परमशुद्धनय कहा जाता है। सामान्य परम-अर्थ अर्थात् परमपदार्थ है। अतः उसे विषय बनाने वाले निश्चयनय को परमार्थनय भी कहा जाता है।

'सामान्य' ध्रुव द्रव्यांश है और 'विशेष' पर्यायें हैं। इस कारण सामान्य – द्रव्य को विषय बनाने वाले नय को द्रव्यार्थिक एवं विशेष – पर्याय को विषय बनाने वाले नय को पर्यायार्थिकनय भी कहते हैं।

सामान्य एक होता है; अतः उसको विषय बनाने वाला निश्चयनय भी एक ही होता है। पर विशेष अनेक होते हैं, अनेक प्रकार के होते हैं; अतः उन्हें विषय बनाने वाले व्यवहारनय भी अनेक होते हैं, अनेक प्रकार के होते हैं।

विशेष के भी पर्याय, भेद, उपाधि, विभाव, विकार आदि अनेक नाम हैं। पर्यायें अनेक होती है, अनेक प्रकार की होती हैं; भेद अनेक होते हैं, अनेक प्रकार के होते हैं। इसीप्रकार उपाधि, विकार और विभाव भी अनेक और अनेक प्रकार के होते हैं। अतः उनको विषय बनाने वाला व्यवहारनय भी अनेक प्रकार का हो तो कोई आश्चर्य नहीं। पर एक, शुद्ध, त्रिकाली, परमपदार्थ, ध्रुवसामान्य को विषय बनाने वाला निश्चयनय अनेक प्रकार का कैसे हो सकता है ? भले ही उसके अनेक नाम हों, पर वह मात्र एक सामान्यग्राही होने से एक ही है।

निश्चयनय एक प्रकार का ही होता है, अनेक प्रकार का नहीं—इस बात को सिद्ध करते हुए पंचाध्यायीकार लिखते हैं :—

"ननु च व्यवहारनयो भवति यथानेक एव सांशत्वात् ।
अपि निश्चयो नयः किल तद्वदनेकोऽथ चैकैकस्त्विति चेत् ।।६५६।।
नैवं यतोऽस्त्यनेको नैकः प्रथमोऽप्यनन्तधर्मत्वात् ।
न तथेति लक्षणत्वादस्त्येको निश्चयो हि नानेकः ।।६५७।।
संदृष्टिः कनकत्वं ताम्रोपाधेर्निवृत्तितो यादृक् ।
अपरं तदपरमिह वा रुक्मोपाधेर्निवृत्तितस्तादृक् ।।६५८।।
एतेन हृतास्ते ये स्वात्मप्रज्ञापराधतः केचित् ।
अप्येकनिश्चयनयमनेकमिति सेवयन्ति यथा ।।६५९।।
शुद्धद्रव्यार्थिक इति स्यादेकः शुद्धनिश्चयो नाम ।
अपरोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति तदशुद्धनिश्चयो नाम ।।६६०।।
इत्यादिकाश्च बहवो भेदा निश्चयनयस्य यस्य मते ।
स हि मिथ्यादृष्टिः स्यात् सर्वज्ञावमानितो नियमात् ।।६६१।।
इदमत्र तु तात्पर्यमधिगन्तव्यं चिदादि यद्वस्तु ।
व्यवहारनिश्चयाभ्यामविरुद्धं यथात्मशुद्धयर्थम् ।।६६२।।
अपि निश्चयस्य नियतं हेतु सामान्यमात्रमिह वस्तु ।
फलमात्मसिद्धिः स्यात् कर्म कलङ्कावमुक्तबोधात्मा ।।६६३।।[1]

शंका :—जिसप्रकार व्यवहारनय अनेक हैं, क्योंकि वह सांश हैं; उसीप्रकार निश्चयनय भी एक-एक मिलकर अनेक ही हैं, यदि ऐसा माना जाए तो क्या आपत्ति है ?

समाधान :—ऐसा नहीं है, क्योंकि अनन्त धर्म होने से व्यवहारनय अनेक हैं, एक नहीं। किन्तु निश्चयनय का लक्षण 'न तथा' है, इसलिए वह एक ही है, अनेक नहीं।

निश्चयनय के एकत्व में दृष्टान्त यह है कि ताम्ररूप उपाधि की निवृत्ति के कारण स्वर्णपना जिसप्रकार अन्य है, चाँदीरूप उपाधि की निवृत्ति के कारण भी वह वैसा ही अन्य है।

इस कथन से उनका निराकरण हो गया, जो अपने ज्ञान के अपराध से निश्चयनय को अनेक प्रकार का मानते हैं।

---

[1] पंचाध्यायी, अ० १, श्लोक ६५६-६६३

एक शुद्धद्रव्यार्थिकनय है, उसी का नाम शुद्धनिश्चयनय है और दूसरा अशुद्धद्रव्यार्थिकनय है, उसका नाम अशुद्धनिश्चयनय है। इत्यादि-रूप से जिनके मत में निश्चयनय के बहुत से भेद माने गये हैं, वे सब सर्वज्ञ की आज्ञा उल्लंघन करनेवाले होने से नियम से मिथ्यादृष्टि हैं।

आशय यह है कि जितने भी जीवादिक पदार्थ हैं, उनको व्यवहार और निश्चयनय के द्वारा अविरुद्ध रीति से उसीप्रकार समझना चाहिए; जिसप्रकार वे आत्मशुद्धि के लिए उपयोगी हो सकें।

यहाँ पर सामान्यमात्र वस्तु निश्चयनय का हेतु है और कर्मकलंक से रहित ज्ञानस्वरूप आत्मसिद्धि इसका फल है।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि पंचाध्यायीकार के मतानुसार निश्चयनय के भेद संभव नहीं हैं, क्योंकि उसका विषय सामान्य है। जब सामान्य ही एक है तो उसका ग्राहक नय अनेक प्रकार का कैसे हो सकता है ?

इस प्रकरण को आरम्भ करते हुए कुछ प्रश्न उपस्थित किये गये थे। उनमें से 'निश्चय के भेद क्यों नहीं हो सकते ?' – इस प्रश्न पर विचार करने के बाद अब 'यदि नहीं हो सकते तो फिर जिनागम में उसके भेद क्यों किये गये, कहाँ किये गये, कितने किये गये और सर्वज्ञकथित आगम में यह विभिन्नता क्यों है ?' – इन पर विचार अपेक्षित है।

सामान्यतः निश्चयनय के दो भेद किये जाते हैं। जैसा कि आलापपद्धति में कहा गया है :–

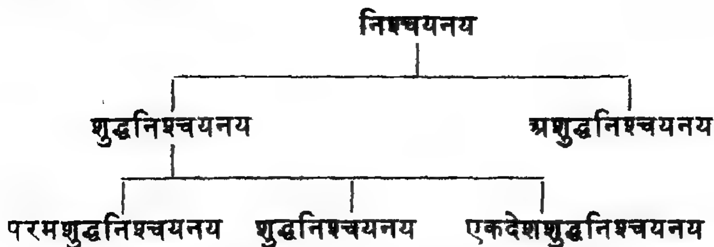
"तत्र निश्चयो द्विविधः, शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च।

निश्चयनय दो प्रकार का है–शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय।"

शुद्धनिश्चयनय की विषयवस्तु के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के कथन प्राप्त होते हैं। उन कथनों के आधार पर उसके नाम के आगे अनेक प्रकार के विशेषण भी लगा दिए जाते हैं। जैसे – परमशुद्धनिश्चयनय, साक्षात्-शुद्धनिश्चयनय, एकदेशशुद्धनिश्चयनय आदि। मुख्यतः शुद्धनिश्चयनय का कथन तीन रूपों में पाया जाता है। वे तीन रूप इसप्रकार हैं :–

(१) परमशुद्धनिश्चयनय
(२) शुद्धनिश्चयनय या साक्षात्शुद्धनिश्चयनय
(३) एकदेशशुद्धनिश्चयनय

यह तीन भेद तो शुद्धनिश्चयनय के हुए और एक अशुद्धनिश्चयनय है। इसप्रकार निश्चयनय कुल चार रूपों में पाया जाता है। जिसे आगे दर्शाये गये चार्ट द्वारा समझा जा सकता है :–



उक्त चार्ट में विशेष ध्यान देने की बात यह है कि 'शुद्धनिश्चयनय' के तीन भेदों में एक का नाम तो 'शुद्धनिश्चयनय' ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'शुद्धनिश्चयनय' शब्द का प्रयोग कभी तो तीनों भेदों के समुदाय के रूप में होता है और कभी उनके एक भेदमात्र के रूप में। इस मर्म से अनभिज्ञ रहने से जिनवाणी के अध्ययन में अनेक विरोधाभास प्रतीत होने लगते हैं।

जैसे—परमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ६४ की टीका में लिखा है :—

"**अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकवीतरागसौख्यात् प्रतिकूलं सांसारिकसुखदुःखं यद्यप्यशुद्धनिश्चयनयेन जीवजनितं तथापि शुद्धनिश्चयनयेन कर्मजनितं भवति।**

अनाकुलता है लक्षण जिसका ऐसे पारमार्थिक वीतरागी सुख से प्रतिकूल सांसारिक सुख-दुःख यद्यपि अशुद्धनिश्चयनय से जीवजनित हैं, तथापि शुद्धनिश्चयनय से कर्मजनित होते हैं।"

तथा बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ४८ की टीका में इसप्रकार लिखा है :—

"**अत्राह शिष्यः, रागद्वेषादयः किं कर्मजनिताः किं जीवजनिता इति ?**

तत्रोत्तरम्—स्त्री-पुरुषसंयोगोत्पन्नपुत्र इव सुधाहरिद्रासंयोगोत्पन्नवर्णविशेष इवोभयसंयोगजनिता इति। पश्चान्नयविवक्षावशेन विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्मजनिता भण्यन्ते। तथैवाशुद्धनिश्चयेन जीवजनिता इति। स चाशुद्धनिश्चयः शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव।

अथ मतम् – साक्षाच्छुद्धनिश्चयनयेन कस्येति पृच्छामो वयम्।

तत्रोत्तरम् – साक्षाच्छुद्धनिश्चयेन स्त्री-पुरुषसंयोगरहितपुत्रस्येव, सुधाहरिद्रासंयोगरहितरङ्गविशेषस्येव तेषामुत्पत्तिरेव नास्ति कथमुत्तरं प्रयच्छाम इति।

यहाँ शिष्य पूछता है :— रागद्वेष आदि कर्मजनित हैं अथवा जीवजनित ?

उसका उत्तर :– स्त्री और पुरुष – इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए पुत्र की भाँति, चूने और हल्दी के मिश्रण से उत्पन्न हुए वर्णविशेष की भाँति, राग-द्वेष आदि जीव और कर्म – इन दोनों के संयोगजनित हैं। नय की विवक्षा के अनुसार विवक्षित एकदेशशुद्धनिश्चयनय से राग-द्वेष कर्मजनित कहलाते हैं और अशुद्धनिश्चनय से जीवजनित कहलाते हैं। यह अशुद्धनिश्चयनय शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार ही है।

प्रश्न :– साक्षात् शुद्धनिश्चयनय से राग-द्वेष किसके हैं – ऐसा हम पूछते हैं ?

उत्तर :– साक्षात् शुद्धनिश्चयनय से स्त्री और पुरुष के संयोग से रहित पुत्र की भाँति, चूना और हल्दी के संयोगरहित रंगविशेष की भाँति, उनकी (राग-द्वेष की) उत्पत्ति ही नही है; तो कैसे उत्तर दें ?''

उक्त दोनों उद्धरणों में से एक में सांसारिक सुख-दुःख राग-द्वेषादि औदयिक भावों को शुद्धनिश्चयनय से कर्मजनित बताया गया है और दूसरे में एकदेशशुद्धनिश्चयनय से। अतः ये दोनों कथन परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। परन्तु थोड़ी-सी गहराई में जाकर विचार करें तो इनमें कोई विरोध नहीं है। बात मात्र इतनी सी है कि परमात्मप्रकाश के कथन में 'शुद्धनिश्चयनय' शब्द का प्रयोग उस मूल अर्थ में हुआ है कि जिसमें शुद्धनिश्चयनय के तीनों भेद गर्भित हैं अर्थात् उन तीनों भेदों में से कोई भी एक भेद विवक्षित हो सकता है। तथा बृहद्द्रव्यसंग्रह में मूल शुद्धनिश्चयनय को न लेकर उसके प्रभेदों की अपेक्षा बात की है। अतः वहाँ एकदेशशुद्ध-निश्चयनय से राग-द्वेष को कर्मजनित कहा है तथा साक्षात्शुद्धनिश्चयनय से उनकी उत्पत्ति से ही इन्कार कर दिया है। यदि कहीं यह कथन भी आ जावे कि शुद्धनिश्चयनय से वे (राग-द्वेष) हैं ही नहीं, तो भी घबड़ाने जैसी बात नहीं है, क्योंकि वहाँ यह समझ लेना कि यहाँ 'शुद्धनिश्चयनय' शब्द का प्रयोग परमशुद्धनिश्चयनय के अर्थ में किया गया है। 'वे नहीं हैं' इसका अर्थ मात्र इतना ही है कि वे (राग-द्वेष) परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत आत्मा में नहीं हैं।

इसप्रकार की शंकाएँ उत्पन्न न हों – इसके लिए यह बात ध्यान में ले लेनी चाहिए कि जिनागम में 'शुद्धनिश्चयनय' के तीनों भेदों के अर्थ में शुद्धनिश्चयनय शब्द का प्रयोग तो हुआ ही है, साथ में मात्र 'शुद्धनय' शब्द का प्रयोग भी पाया जाता है। अतः जहाँ विशेष भेद का उल्लेख न हो वहाँ हमें आगमानुसार अपने विवेक का प्रयोग करके ही यह निश्चय करना होगा कि यह कथन शुद्धनिश्चयनय के किस प्रभेद की अपेक्षा है।

तथा जहाँ अकेले 'निश्चयनय' शब्द का ही प्रयोग हो, तो उसकी सीमा में अशुद्धनिश्चयनय के भी आजाने से, हमें उसका भी ध्यान रखना होगा।

उक्त उद्धरण में एक बात और भी महत्त्व की आगई है। वह यह कि शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय भी व्यवहारनय ही है। इससे यह भी जान लेना चाहिए कि यदि कहीं यह कथन भी मिल जावे कि रागादिभाव व्यवहारनय से जीव के हैं, तो भी आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि उन्हें यहाँ जीव के अशुद्धनिश्चयनय से कहा है। जहाँ अशुद्धनिश्चयनय को व्यवहार कहा जावेगा, वहाँ इन्हें भी व्यवहार से जीवकृत कहा जावेगा।

बात यहाँ तक ही समाप्त नहीं होती, क्योंकि जब शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से अशुद्धनिश्चयनय व्यवहार हो जाता है; तो शुद्धनिश्चयनय के प्रभेदों में भी ऐसा ही क्यों न हो ? अर्थात् ऐसा होता ही है। परमशुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा साक्षात् शुद्धनिश्चय एवं एकदेशशुद्धनिश्चयनय भी व्यवहार ही कहे जाते हैं।

इसप्रकार हम देखते है कि निश्चयनय के भेद-प्रभेदों के कथन का, 'निश्चयनय के भेद तो हो ही नहीं सकते, वह तो एक प्रकार का ही होता है' – इस कथन से कोई विरोध नहीं रहता है; क्योंकि वास्तविक निश्चयनय तो एक ही रहा, शेष को तो विवक्षानुसार कभी निश्चय और कभी व्यवहार कह दिया जाता है। एकमात्र परमभावग्राही – सामान्यग्राही परमशुद्ध-निश्चयनय ही ऐसा है कि जो कभी भी व्यवहारपने को प्राप्त नहीं होता, उसके कोई भेद नहीं होते; अतः वास्तविक निश्चयनय तो अभेद्य ही रहा।

भाई ! हमने पहले भी कहा था कि जिनेन्द्र भगवान का नयचक्र बड़ा ही जटिल है, उसे समझने में अतिरिक्त सावधानी वर्तने की अत्यन्त आवश्यकता है।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि यद्यपि जिनागम का सम्पूर्ण कथन नयों के आधार पर ही होता है, पर सर्वत्र यह उल्लेख नहीं रहता कि यह किस नय का कथन है ? अतः हमें यह तो अपनी बुद्धि से निर्णय करना होगा कि यह किस नय का कथन है। अतः जिनागम का मर्म जानने के लिए आगम के आधार के साथ-साथ जागृत विवेक की आवश्यकता भी कदम-कदम पर है।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है और उसका यह अनेकान्त नयों की भाषा में ही व्यक्त हुआ है। अतः उसे समझने के लिये नयों का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है।

यह भी तो अनेकान्त ही है कि निश्चयनय अभेद्य है, पर उसे भेदा जा रहा है; और निश्चयनय के भेद-प्रभेद बताये जा रहे हैं, फिर भी उसकी अभेद्यता कायम है।

अब यहाँ निश्चयनय के भेद-प्रभेदों की विषयवस्तु के सम्बन्ध में विचार अपेक्षित है।

वैसे तो सामान्य-विशेषात्मक प्रत्येक वस्तु का अंश, चाहे वह चेतन हो या जड़, नय का विषय बन सकता है, किन्तु यहाँ अध्यात्म का प्रकरण है अर्थात् मुख्यतः अध्यात्म नयों की चर्चा चल रही है; अतः यहाँ आत्मवस्तु एवं उसके अंशों को ही अध्ययन का – विवेचन का विषय बनाया गया है। नयों के विषय को आत्मा पर घटित करने के कारण, यह नहीं समझ लेना चाहिए कि नयों का प्रयोग आत्मवस्तु पर ही होता है। अध्यात्म में आत्मा को जानना ही मूल प्रयोजन रहता है, अतः उसे प्रधान करके ही सम्पूर्ण कथन किया जाता है। 'अध्यात्म' शब्द का अर्थ ही आत्मा को जानना होता है। अधि + आत्म = अध्यात्म; अधि = जानना, आत्म = आत्मा को। आत्मा को जानना ही अध्यात्म है।

आत्मा को जानने का अर्थ मात्र शब्दों से जान लेना मात्र नहीं है, अपितु आत्मानुभूति सम्पन्न होने से है। बृहद्द्रव्यसंग्रह में अध्यात्म का अर्थ इसप्रकार किया गया है :–

"अध्यात्मशब्दस्यार्थः कथ्यते–"मिथ्यात्वरागादिसमस्तविकल्पजाल-रूपपरिहारेण स्वशुद्धात्मन्यधि यदनुष्ठानं तदध्यात्ममिति[1]

अध्यात्मशब्द का अर्थ कहते है – मिथ्यात्व, राग आदि समस्त विकल्पजाल के त्याग से स्वशुद्धात्मा में जो अनुष्ठान होता है, उसे अध्यात्म कहते हैं।"

निश्चयनय के उक्त भेद-प्रभेदो में प्रत्येक द्रव्य की अपने गुण-पर्यायों से अभिन्नता (अभेद) को मुख्य आधार बनाया गया है।

प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न एवं पर तथा पर के गुण-पर्यायों से भिन्न है। इसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमन का कर्त्ता स्वयं है। किसी भी द्रव्य के परिणमन में किसी अन्य द्रव्य का कोई हस्तक्षेप

[1] बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ५७ की टीका

नहीं है। इस सत्य का ग्राहक – प्रतिपादक निश्चयनय है। इस बात को ध्यान में रखकर ही निश्चयनय के परमशुद्धनय को छोड़कर शेष तीन भेद किये गए हैं, जो कि किसी भी प्रकार अनुचित नहीं हैं; क्योंकि निश्चय-व्यवहार नयों की परिभाषा में यह स्पष्ट किया ही जा चुका है कि :–

"(१) एक ही द्रव्य के भाव को उस रूप ही कहना निश्चयनय है और उपचार से उक्त द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप कहना व्यवहारनय है।

(२) जिस द्रव्य की जो परिणति हो, उसे उसकी ही कहना निश्चयनय है और उसे ही अन्य द्रव्य की कहनेवाला व्यवहारनय है।

(३) व्यवहारनय स्वद्रव्य को, परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है। तथा निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी मे नहीं मिलाता।[1]"

अपनी पर्यायों से अभिन्नता – तन्मयता एवं परपदार्थों से भिन्नता दिखाना ही निश्चयनय के उक्त तीन भेदों की मुख्य पहिचान है। तथा परमशुद्धनिश्चयनय का कार्य अपनी पर्यायों से भी भिन्नता दिखाना है।

इसप्रकार ये निश्चयनय के चारों भेद निजशुद्धात्मतत्व को पर और पर्याय से भिन्न अखण्ड त्रैकालिक स्थापित करते हैं। ये नय दृष्टि को पर और पर्याय से हटाकर किसप्रकार स्वभावसन्मुख ले जाते हैं – इसकी चर्चा इनके प्रयोजन पर विचार करते समय आगे करेंगे।

अब यहाँ निश्चयनय के भेदों के स्वरूप एवं उनकी विषयवस्तु पर पृथक्-पृथक् विचार करते हैं :–

(क) परमशुद्धनिश्चयनय में त्रिकाली शुद्धपरमपारिणामिक सामान्य-भाव का ग्रहण होता है। इसके उदाहरणरूप कुछ शास्त्रीय कथन इस प्रकार हैं :–

(१) "**शुद्धनिश्चयेन सहजज्ञानादिपरमस्वभावगुणानामाधारभूतत्वात्कारणशुद्धजीवः।**[2]

शुद्धनिश्चयनय से सहजज्ञानादि परमस्वभावभूतगुणों का आधार होने से कारणशुद्धजीव है।"

[1] जिनवरस्य नयचक्रम्, पृष्ठ ३३-३४

[2] नियमसार, गाथा ९ की संस्कृत टीका

(२) "आत्मा हि शुद्धनिश्चयेन सत्ताचैतन्यबोधादिशुद्धप्राणैर्जीवति।[1]

शुद्धनिश्चयनय से जीव सत्ता, चैतन्य व ज्ञानादि शुद्धप्राणों से जीता है।"

(ख) निरुपाधिक गुण-गुणी को अभेदरूप विषय करनेवाला शुद्ध-निश्चयनय या साक्षात्शुद्धनिश्चयनय है। जैसे—जीव को शुद्ध केवलज्ञानादि-रूप कहना।[2] यह नय आत्मा को क्षायिकभावों से अभेद बताता है तथा उन्हीं का कर्त्ता-भोक्ता भी कहता है। इस विषय को स्पष्ट करनेवाले अनेक कथन उपलब्ध होते हैं। जैसे :–

(१) "शुद्धनिश्चयेन केवलज्ञानादिशुद्धभावाः स्वभावा भण्यन्ते।[3]

शुद्धनिश्चयनय से केवलज्ञानादि शुद्धभाव जीव के स्वभाव कहे जाते हैं।"

(२) "शुद्धनिश्चयनयेन निरूपाधिस्फटिकवत् समस्तरागादि-विकल्पोपाधिरहितम्।[4]

शुद्धनिश्चयनय से निरुपाधि स्फटिकमणि के समान आत्मा समस्त रागादि विकल्प की उपाधि से रहित है।"

(३) "शुद्धनिश्चयनयात्पुनः शुद्धमखण्डं केवलज्ञानदर्शनद्वयं जीव-लक्षणमिति।[5]

शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध, अखंड केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों जीव के लक्षण है।"

(ग) एकदेशशुद्धता से तन्मय द्रव्यसामान्य को पूर्णशुद्ध देखना एकदेशशुद्धनिश्चयनय है। जैसे :–

(१) "तस्मिन् ध्याने स्थितानां यद्वीतरागपरमानन्दसुखं प्रतिभाति, तदेव निश्चयमोक्षमार्गस्वरूपम्।.........तदेव शुद्धात्मस्वरूपं, तदेव परमात्म-स्वरूपं तदेवैकदेशव्यक्तिरूपविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनयेन स्वशुद्धात्म-संवित्तिसमुत्पन्न सुखामृतजलसरोवरे रागादिमलरहितत्वेन परमहंसस्वरूपम्।

---

[1] पंचास्तिकाय, गाथा २७ की जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका

[2] 'तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयकः शुद्धनिश्चयो यथा – केवलज्ञानादयो जीव इति' – आलापपद्धति, अन्तिम पृष्ठ

[3] पंचास्तिकाय, गाथा ६१ की जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका

[4] प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति टीका के परिशिष्ट

[5] बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ६ की टीका

इदमेकदेशव्यक्तिरूपं शुद्धनयव्याख्यानमत्र परमात्मध्यानभावनानाममालायां यथासंभवं सर्वत्र योजनीयमिति ।[1]

उस परमध्यान में स्थित जीव को जिस वीतराग परमानन्दरूप सुख का प्रतिभास होता है, वही निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप है।............वही शुद्धात्मस्वरूप है, वही परमात्मस्वरूप है, वही एकदेशप्रगटतारूप विवक्षित एकदेशशुद्धनिश्चयनय से स्वशुद्धात्म के संवेदन से उत्पन्न सुखामृतरूपी जल के सरोवर में रागादिमल रहित होने के कारण परमहंस स्वरूप है। इस एकदेशव्यक्तिरूप शुद्धनय के व्याख्यान को परमात्मध्यान भावना की नाममाला में जहाँ यह कथन है, वहाँ परमात्मध्यान भावना के परब्रह्म स्वरूप, परमविष्णुस्वरूप, परमशिवस्वरूप, परमबुद्धस्वरूप, परमजिन-स्वरूप............आदि अनेक नाम गिनाए गए हैं। उन्हें परमात्मतत्त्व के ज्ञानियों द्वारा जानना चाहिए।"

(घ) सोपाधिक गुण-गुणी में अभेद दर्शानेवाला अशुद्धनिश्चयनय है, जैसे – मतिज्ञानादि को जीव कहना।[2] राग-द्वेषादि विकारीभावों को जीव कहनेवाले कथन भी इसी नय की सीमा में आते हैं। यह नय औदयिक और क्षायोपशमिक भावों को जीव के साथ अभेद बताता है, उनके साथ कर्ता-कर्म आदि भी बताता है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ८ की टीका में लिखा है :–

"अशुद्धनिश्चयस्यार्थः कथ्यते – कर्मोपाधिसमुत्पन्नत्वादशुद्धः, तत्काले तप्तायःपिण्डवत्तन्मयत्वाच्च निश्चयः, इत्युभयमेलापकेनाशुद्धनिश्चयो भण्यते ।

अशुद्धनिश्चय का अर्थ कहा जाता है – कर्मोपाधि से उत्पन्न हुआ होने से 'अशुद्ध' कहलाता है और उससमय तपे हुए लोहखण्ड के गोले के समान तन्मय होने से 'निश्चय' कहलाता है। इसप्रकार अशुद्ध और निश्चय इन दोनों का मिलाप करके अशुद्धनिश्चय कहा जाता है।"

इसके कतिपय उदाहरण इसप्रकार हैं :–

(१) **"ते चेव भावरूवा जीवे भूदा खओवसमदो य।**
ते होंति भावपाणा असुद्धणिच्छयणयेण णायव्वा ॥[3]

---

[1] बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ५६ की टीका

[2] 'सोपाधिकगुणगुण्यभेदविषयोऽशुद्धनिश्चयो यथा–मतिज्ञानादयो जीव इति' – आलाप-पद्धति, अन्तिम पृष्ठ

[3] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा ११३

जीव में कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले जितने भाव हैं, वे जीव के भावप्राण होते हैं – ऐसा अशुद्धनिश्चयनय से जानना चाहिए।"

(२) "**आत्मा हि अशुद्धनिश्चयनयेन सकलमोहरागद्वेषादि भावकर्मणां कर्त्ता भोक्ता च।**[1]

अशुद्धनिश्चयनय से यह आत्मा सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेषादिरूप भावकर्मों का कर्त्ता और भोक्ता होता है।"

(३) "**तदेवाशुद्धनिश्चयनयेन सोपाधिस्फटिकवत् समस्तरागादि विकल्पोपाधिसहितम्।**[2]

वही आत्मा अशुद्धनिश्चयनय से सोपाधिक स्फटिक की भांति समस्तरागादिविकल्पों की उपाधि से सहित है।"

(४) "**अशुद्धनिश्चयनयेन क्षायोपशमिकौदयिकभावप्राणैर्जीवति।**[3]

अशुद्धनिश्चयनय से जीव क्षायोपशमिक व औदयिक भावप्राणों से जीता है।"

निश्चयनय के भेद-प्रभेदों की विषयवस्तु एव कथनशैली स्पष्ट करने के लिए जो कतिपय उदाहरण – शास्त्रीय-उद्धरण यहाँ प्रस्तुत किये गए हैं, उनका बारीकी से अध्ययन करने पर यद्यपि बहुत कुछ स्पष्ट हो जाएगा; तथापि पूर्ण स्पष्टता तो जिनागम के गहरे अध्ययन, मनन एवं चिन्तन से ही संभव है।

उक्त उद्धरणों में यद्यपि अधिकांश प्रयोगों को समेटने का प्रयास किया गया है, तथापि इसप्रकार का दावा किया जाना संभव नहीं है कि सभीप्रकार के प्रयोग उपस्थित कर दिये गए है। जिनागम मे और भी अनेक प्रकार के प्रयोग प्राप्त होना संभव है, क्योंकि जिनागम अगाध है, उसका पार पाना सहज संभव नहीं है।



[1] नियमसार, गाथा १८ की टीका

[2] प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति का परिशिष्ट

[3] पंचास्तिकाय, गाथा २७ की जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका

निश्चयनय : कुछ प्रश्नोत्तर

निश्चयनय के भेद-प्रभेदों की विस्तृत चर्चा के उपरान्त भी कुछ सहज जिज्ञासाएँ शेष रह गई हैं, उन्हें यहाँ प्रश्नोत्तरों के रूप में स्पष्ट कर देना समीचीन होगा।

(१) **प्रश्न :–** शुद्धनिश्चयनय एवं एकदेशशुद्धनिश्चयनय में क्या अन्तर है ?

उत्तर :– शुद्धनिश्चयनय का विषय पूर्णशुद्धपर्याय से तन्मय अर्थात् क्षायिकभाव से तन्मय (अभेद) द्रव्य होता है और एकदेशशुद्धनिश्चयनय का विषय आंशिकशुद्धपर्याय से तन्मय अर्थात् क्षयोपशमभाव के शुद्धांश से तन्मय (अभेद) द्रव्य होता है।

यहाँ यह बात ध्यान रखनी होगी कि यहाँ जो 'शुद्धनिश्चयनय' लिया है, वह मूल 'शुद्धनिश्चयनय' न होकर उसके तीन भेदों में जो 'शुद्धनिश्चयनय या साक्षात्शुद्धनिश्चयनय' आता है, वह है।

इन दोनों में अन्तर जानने के लिए बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ८ की टीका का निम्नलिखित अंश अधिक उपयोगी है :–

"शुभाशुभमंयोगत्रयव्यापाररहितेन शुद्धबुद्धैकस्वभावेन यदा परिणमति तदानन्तज्ञानसुखादिशुद्धभावानां छद्मस्थावस्थायां भावनारूपेण विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता, मुक्तावस्थायां तु शुद्धनयेनेति।

जब जीव शुभ-अशुभरूप तीन योग के व्यापार से रहित, शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभावरूप से परिणमन करता है, तब छद्मस्थ अवस्था में भावना-रूप से विवक्षित अनन्त-ज्ञान-सुखादिशुद्ध-भावों का एकदेशशुद्धनिश्चयनय से कर्त्ता है और मुक्त-अवस्था में अनन्तज्ञान-सुखादिभावों का शुद्धनय से कर्त्ता है।"

इस उद्धरण में ध्यान देने की बात यह है कि आत्मा को अनन्तज्ञान-सुख आदि पूर्णशुद्धभावों का कर्त्ता मुक्त-अवस्था में तो शुद्धनय से बताया है, पर उन्हीं पूर्णशुद्धकेवलज्ञानादिभावों का छद्मस्थ अवस्था में एकदेश-शुद्धनिश्चयनय से कर्त्ता बताया है, जबकि वे केवलज्ञानादि उस समय हैं ही नहीं।

यहाँ एकदेशशुद्धनिश्चयनय ने भावना की अपेक्षा से एकदेशशुद्धि से युक्त आत्मा को केवलज्ञानादि भावों का कर्त्ता अर्थात् पूर्णशुद्ध कहा है। अतः यह भी जान लेना चाहिए कि यह नय भावना की अपेक्षा एकदेशशुद्धता में पूर्णशुद्धता का कथन करता है ?

(२) **प्रश्न** :– एकदेशशुद्धता के आधार पर सम्पूर्ण द्रव्य को शुद्ध कहना तो उचित प्रतीत नहीं होता ?

उत्तर :– इसमें क्या अनुचित है ? प्रत्येक नय अपनी दृष्टि से जो भी कथन करता है, सम्पूर्ण द्रव्य के बारे में ही करता है। जब परमशुद्ध निश्चयनय पर्याय में अशुद्धता होने पर भी द्रव्य को शुद्ध कहता है; और इसीप्रकार जब द्रव्यांश में शुद्धता के रहते हुए भी पर्याय की अशुद्धता के आधार पर अशुद्धनिश्चयनय सम्पूर्ण द्रव्य को ही अशुद्ध कहता है; तब एकदेशशुद्धनिश्चयनय भी एकदेशशुद्धि के आधार पर द्रव्य को शुद्ध कहे तो इसमें क्या अनुचित है ?

(३) **प्रश्न** :– इसप्रकार तो एकदेश-अशुद्धता के आधार पर सम्पूर्ण द्रव्य को अशुद्ध भी कहा जा सकता है ?

उत्तर :– क्यों नहीं ? अवश्य कहा जा सकता है। कहा क्या जा सकता है, कहा ही जाता है। अशुद्धनिश्चयनय द्रव्य को अशुद्ध कहता ही है।

(४) **प्रश्न** :– अशुद्धनिश्चयनय नही, एकदेश-अशुद्धनिश्चयनय कहो न ?

उत्तर :– एकदेश-अशुद्धनिश्चयनय भी कह सकते हैं, पर 'एकदेश-अशुद्धनिश्चयनय' नामक किसी नय का कथन आगम में प्राप्त नहीं होता। उसके विषय को अशुद्धनिश्चयनय में ही गर्भित कर लिया गया है। आप मानना चाहें तो मान लें।

(५) **प्रश्न** :– क्या कहा ? हम मानना चाहें तो मान लें। जब आगम में नहीं मिलता है तो हम क्यों मान लें ? तथा जब आप हमें मान लेने की अनुमति देते हैं, तो फिर आगम में क्यों नहीं है ?

उत्तर :– आगम में उसके पृथक् उल्लेख की आवश्यकता नहीं समझी, सो नहीं लिखा। आप आवश्यकता समझते हों तो मानलें, कोई आपत्ति नहीं है।

इस सम्बन्ध में क्षुल्लक श्री जिनेन्द्र वर्णी के विचार दृष्टव्य हैं :–

"आगम में क्योंकि जीवों को ऊँचे उठाने की भावना प्रमुख है, अतः यहाँ एकदेश-शुद्धनिश्चयनय का कथन तो आ जाता है; पर एकदेश-अशुद्ध

निश्चयनय का कथन नहीं किया जाता। अपनी बुद्धि से हम एकदेश-अशुद्धनिश्यनय को भी स्वीकार कर सकते हैं। जितनी कुछ नय आगम में लिखी हैं, उतनी ही हों – ऐसा नियम नहीं। वहाँ तो एक सामान्य नियम बता दिया है। उसके आधार पर अन्य नय भी यथायोग्यरूप से स्थापित की जा सकती हैं। जिसप्रकार साधक के क्षायोपशमिकभाव को एकदेश-शुद्धनिश्चयनय से क्षायिकवत् पूर्णशुद्ध कहा जाता है; उसीप्रकार उसको एकदेश-अशुद्धनिश्चयनय से औदयिकवत् पूर्ण अशुद्ध भी कहा जा सकता है। इसमें कोई विरोध नहीं।[1]

इस एकदेशदृष्टि में बारी-बारी भले शुद्धभाग को पृथक् ग्रहण करके जीव को पूर्ण अशुद्ध कह लीजिए।....एकदेशदृष्टि में दोनों ही अपने-अपने स्थान पर पूरे-पूरे दिखाई देंगे। शुद्धांश को पृथक् ग्रहण करने वाली यह एकदेशदृष्टि ही एकदेश-शुद्धनिश्चयनय कहलाती है। इस दृष्टि से साधक अवस्था में भी जीव सिद्धोंवत् पूर्णशुद्ध ही ग्रहण करने में आता है। अतः कहा जा सकता है कि यह साधक पूर्ण शुद्धोपयोग का कर्त्ता तथा अनन्त परमानन्द का भोक्ता है।[2]"

(६) **प्रश्न** :– प्रथम प्रश्न के उत्तर में क्षयोपशमभाव को एकदेश-शुद्धनिश्चयनय का विषय बताया गया है। तथा अशुद्धनिश्चयनय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए क्षायोपशमिक और औदयिक भावों के साथ जीव को तन्मय (अभेद) बताना अशुद्धनिश्चयनय का कथन बताया था। अतः प्रश्न यह है कि क्षायोपशमिक भावों के साथ अभिन्नता बताना अशुद्ध-निश्चयनय का विषय है या एकदेशशुद्धनिश्चयनय का ?

उत्तर :– दोनों ही कथन सही हैं, क्योंकि क्षयोपशमभाव में शुद्धता और अशुद्धता – दोनों भावों का मिश्रण रहता है। क्षयोपशमभाव में विद्यमान शुद्धता के अंश के साथ आत्मा की अभेदता एकदेशशुद्धनिश्चयनय के विषय में आती है और क्षयोपशमभाव में विद्यमान अशुद्धता के अंश के साथ अभेदता अशुद्धनिश्चयनय के विषय में आती है।

अतः जहाँ क्षयोपशमभाव को अशुद्धनिश्चयनय से जीव कहा गया हो, वहाँ समझना चाहिए कि यह क्षयोपशमभाव के अशुद्धांश की अपेक्षा किया गया कथन है और जहाँ एकदेशशुद्धनिश्चयनय से कहा गया हो, वहाँ समझना चाहिए कि यह क्षयोपशमभाव के शुद्धांश की अपेक्षा किया गया कथन है।

---

[1] नयदर्पण, पृष्ठ ६२४, पंक्ति १२–२२
[2] वही, पृष्ठ ६२४, पंक्ति १–११

ध्यान रहे एकदेशशुद्धनिश्चयनय का प्रयोग निर्मल परन्तु अपूर्ण पर्याय के साथ अभेदता दिखाने में ही होता है। अपूर्णता की अपेक्षा इसे 'एकदेश', निर्मलता – शुद्धता की अपेक्षा 'शुद्ध' एवं अपनी पर्याय होने से 'निश्चय' कहा जाता है। इसप्रकार एकदेशशुद्धनिश्चयनय में अपनी निर्मल लेकिन अपूर्ण पर्याय के साथ द्रव्य की तन्मयता बताना इष्ट होता है। पर्याय की निर्मलता इसे अशुद्धनिश्चयनय से पृथक् रखती है, एवं अपूर्णता शुद्धनिश्चयनय से पृथक् रखती है।

(७) **प्रश्न** :– निश्चयनय के चारों भेद किस-किस गुणस्थान में पाये जाते हैं ?

उत्तर :– (**अ**) परमपारिणामिकभावरूप सामान्य-अंश का ग्राही होने से परमशुद्धनिश्चयनय तो मुक्त और संसारी समस्त जीवों के पाया जाता है। अतः वह तो चौदहगुणस्थानों और गुणस्थानातीत सिद्धों में भी पाया जाता है। इस नय की अपेक्षा संसारी और सिद्ध – ऐसे भेद ही संभव नहीं हैं। **'सर्व जीव हैं सिद्धसम'** या **'मम स्वरूप है सिद्ध समान'** या **'सिद्ध समान सदा पद मेरो'** आदि कथन इसी नय के तो हैं।

'वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त के सभी भाव जीव के नहीं हैं' – यह कथन भी इसी नय की अपेक्षा से किया जाता है।

'वर्णाद्या वा राग-मोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः'

जो निगोद में सो ही मुझमें, सो ही मोक्ष मझार।
निश्चय भेद कछु भी नाहीं, भेद गिनै संसार ॥'

– ये सब कथन इसी नय के हैं।

एक यही निश्चयनय है, जो द्रव्यस्वभाव को ग्रहण करता है; शेष नय तो पर्यायस्वभाव को ग्रहण करनेवाले हैं। यही कारण है कि वे इसकी अपेक्षा व्यवहार हो जाते हैं, निषेध्य हो जाते हैं।

यही वह नय है, जिसे पंचाध्यायीकार ने नयाधिपति कहा है और एकमात्र इसे ही निश्चयनय स्वीकार किया है।

(**ब**) शुद्धनिश्चयनय पूर्णशुद्ध भावों अर्थात् क्षायिकभावरूप पर्यायों को द्रव्य में अभेदरूप से (ग्रहणकर) कथन करनेवाला होने से क्षायिक-भाववालों में ही पाया जाता है। क्षायिकसम्यग्दर्शन की अपेक्षा यह चौथे गुणस्थान में भी पाया जाता है और इसी अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दृष्टि को दृष्टिमुक्त कहा जाता है। यह भी कहा जाता है कि दृष्टि-अपेक्षा वह सिद्ध ही हो गया।

'क्षायिकसम्यक्त्व की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि को सिद्ध मानना' – यह शुद्धनिश्चयनय है। और 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' – यह परमशुद्ध निश्चयनय है, क्योंकि इसमें सिद्ध के समान सदा ही अपना पद बताया गया है; वह किसी पर्याय की अपेक्षा नहीं बताया गया है, अपितु स्वभाव की अपेक्षा किया गया कथन है।

(स) मुक्तिमार्ग के साथ अभेदता स्थापित करने के कारण एकदेश-शुद्धनिश्चयनय साधकजीव के ही पाया जाता है। अतः यह चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक ही समझना चाहिए।

इस संदर्भ में बृहद्द्रव्यसंग्रह का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है :–

"कर्तृत्वविषये नयविभागः कथ्यते। मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य पुद्गलद्रव्य-पर्यायरूपाणामास्रवबंधपुण्यपापपदार्थानां कर्तृत्वमनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, जीवभावपर्यायरूपाणां पुनरशुद्धनिश्चयनयेनेति। सम्यग्दृष्टेस्तु संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां द्रव्यरूपाणां यत्कर्तृत्वं तदप्यनुपचरितासद्भूत-व्यवहारेण, जीवभावपर्यायरूपाणां तु विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनयेनेति। परमशुद्धनिश्चयनयेन तु।

"ण वि उप्पज्जइ, ण वि मरइ, बन्धु ण मोक्खु करेइ।
जिउ परमत्थे जोइया, जिणवरु एउं भणेई॥"
– इति वचनाद् बन्धमोक्षौ न स्तः।

स च पूर्वोक्तविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चय आगमभाषया किं भण्यते।

स्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपेण भविष्यतीति भव्यः, एवंभूतस्य भव्यत्वसंज्ञस्य पारिणामिकभावस्य संबन्धिनी व्यक्तिर्भण्यते।

अध्यात्मभाषया पुनर्द्रव्यशक्तिरूपशुद्धपारिणामिकभावविषये भावना भण्यते, पर्यायनामान्तरेण निर्विकल्पसमाधिर्वा, शुद्धोपयोगादिकं चेति।[1]

अब कर्त्तृत्व के विषय में नयविभाग का कथन करते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव को पुद्गलद्रव्य के पर्यायरूप आस्रव, बंध, पुण्य और पापपदार्थों का कर्त्तृत्व अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से और जीवभावपर्यायरूप आस्रव, बंध, पुण्य व पापपदार्थों का कर्त्तृत्व अशुद्धनिश्चयनय से है। सम्यग्दृष्टि जीव को भी द्रव्यरूप संवर, निर्जरा और मोक्षपदार्थ का कर्त्तृत्व अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से है। और जीवभावपर्यायरूप संवर, निर्जरा व मोक्ष-पदार्थों का कर्त्तृत्व विवक्षित एकदेशशुद्धनिश्चयनय से है। परमशुद्ध-निश्चयनय से तो :–

---

[1] बृहद्द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ ६६

'हे योगी ! परमार्थ से यह जीव उत्पन्न नहीं होता है, मरता नहीं है, बंध और मोक्ष करता नहीं है – इसप्रकार जिनेन्द्र कहते हैं।'

– इस वचन से जीव को बन्ध और मोक्ष नहीं है।

पूर्वोक्त विवक्षित एकदेशशुद्धनिश्चयनय को आगमभाषा में क्या कहते हैं ?

जो स्वशुद्धात्मा के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप होगा, वह 'भव्य', इसप्रकार के 'भव्यत्व' नामक पारिणामिकभाव के साथ संबंधित 'व्यक्ति' कही जाती है। (अर्थात् भव्यत्व पारिणामिकभाव की व्यक्तता अर्थात् प्रगटता कही जाती है) और अध्यात्मभाषा में उसे ही द्रव्यशक्तिरूप शुद्ध-पारिणामिकभाव की भावना कहते हैं, अन्य नाम से उसे 'निर्विकल्पसमाधि' अथवा 'शुद्धोपयोग' आदि कहते हैं।

(ब) अशुद्धनिश्चयनय प्रथम गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक वर्तता है। जैसा कि बृहद्द्रव्यसंग्रह की ३४वीं गाथा की टीका में कहा है :–

"मिथ्यादृष्टयादिक्षीणकषायपर्यन्तमुपर्युपरि मंदत्वात्तारतम्येन-तावदशुद्धनिश्चयो वर्तते।

मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक ऊपर-ऊपर मंदपना होने से तारतम्यता से अशुद्धनिश्चयनय वर्तता है।"

(८) **प्रश्न** :– साधक के शुद्धोपयोग में तो एकदेशशुद्धनिश्चयनय कहा था और यहाँ बारहवें गुणस्थान तक अशुद्धनिश्चयनय बताया जा रहा है। क्या शुद्धोपयोग में भी अशुद्धनिश्चयनय घटित होता है ?

उत्तर :– हाँ, होता है, क्योंकि साधक का शुद्धोपयोग क्षयोपशम-भावरूप है। क्षयोपशमभाव में एकदेशशुद्धनिश्चयनय एवं अशुद्धनिश्चयनय ऊपर घटित कर ही आये हैं, अतः यहाँ विशेष कथन अपेक्षित नहीं है।

इसीप्रकार का प्रश्न बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३४ की टीका में भी उठाया गया है। वहाँ जो उत्तर दिया गया है उसे उन्हीं की भाषा में देखिये :–

"अशुद्धनिश्चयमध्ये मिथ्यादृष्टयादिगुणस्थानेषूपयोगत्रयं व्याख्यातं, तत्राशुद्धनिश्चये शुद्धोपयोगः कथं घटते ?

इति चेत्तत्रोत्तरं – शुद्धोपयोगे शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठति, तेन कारणेन शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलंबनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूप-साधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते।

स च संवरशब्दवाच्यः शुद्धोपयोगः संसारकारणभूतमिथ्यात्वरागाद्यशुद्धपर्यायवदशुद्धो न भवति तथैव फलभूतकेवलज्ञानलक्षणशुद्धपर्यायवत् शुद्धोऽपि न भवति, किन्तु ताभ्यामशुद्धशुद्धपर्यायाभ्यां विलक्षणं शुद्धात्मानुभूतिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणमेकदेशव्यक्तिरूपमेकदेशनिरावरणं च तृतीयमवस्थान्तरं भण्यते ।

शंका :– अशुद्धनिश्चयनय में मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में (अशुभ, शुभ और शुद्ध) तीन उपयोगों का व्याख्यान किया; वहाँ अशुद्धनिश्चयनय में शुद्धोपयोग किसप्रकार घटित होता है ?

समाधान :– शुद्धोपयोग में शुद्ध, बुद्ध, एकस्वभावी निजात्मा ध्येय होता है। इसकारण शुद्धध्येयवाला होने से, शुद्धअवलंबनवाला होने से और शुद्धात्मस्वरूप का साधक होने से अशुद्धनिश्चयनय में शुद्धोपयोग घटित होता है।

'संवर' शब्द से वाच्य वह शुद्धोपयोग संसार के कारणभूत मिथ्यात्व रागादि अशुद्धपर्याय की भाँति अशुद्ध नहीं होता, उसीप्रकार उसके फलभूत केवलज्ञानरूप शुद्धपर्याय के समान शुद्ध भी नहीं होता; परन्तु वह शुद्ध और अशुद्ध दोनों पर्यायों से विलक्षण, शुद्धात्मा के अनुभवरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक, मोक्ष का कारणभूत, एकदेशप्रगट, एकदेशनिरावरण – ऐसी तृतीय अवस्थारूप कहलाता है।"

(६) **प्रश्न** :– 'निश्चयनय अभेद्य है, फिर भी प्रयोजनवश उसके भेद-प्रभेद किये गये हैं।' – इस संदर्भ में प्रश्न यह है कि वह कौनसा प्रयोजन था कि जिसके लिए अभेद्य निश्चयनय के भेद करने पड़े ? आशय यह है कि निश्चयनय के उक्त भेद-प्रभेदों से किस प्रयोजन की सिद्धि होती है ?

उत्तर :– जगत के संपूर्ण जीव अनंत आनंद के कंद और ज्ञान के घनपिण्ड होने पर भी अपने-अपने ज्ञानानंदस्वभावी स्वरूप से अनभिज्ञ रहने के कारण पर और पर्याय में एकत्वबुद्धि धारणकर जन्म-मरण के अनंत-दुख उठा रहे हैं। पर और पर्याय से पृथक् अपने आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और अनुचरण के अभाव के कारण ही अनंत संसार बन रहा है। इसका अभाव निजशुद्धात्मस्वरूप के परिज्ञान बिना संभव नहीं है। पर और पर्याय से भिन्न निजशुद्धात्मस्वरूप के परिज्ञान के लिए ही निश्चयनय के ये भेद-प्रभेद किये हैं।

सर्वप्रथम परद्रव्य और उनकी पर्यायों से भिन्नता एवं अपने गुण-पर्यायों से अभिन्नता बताना अभीष्ट था; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य की इकाई

स्थापित किये बिना – स्पष्ट किये बिना वस्तु की स्वतंत्रता, विभिन्नता एवं स्वायत्तता स्पष्ट नहीं होती। प्रत्येक द्रव्य अपनी अच्छाई-बुराई का उत्तरदायी स्वयं है, अपना भला-बुरा करने में स्वयं समर्थ है और उसके लिए पूर्ण स्वतंत्र है – यह स्पष्ट करना ही अशुद्धनिश्चयनय का प्रयोजन है। अपने इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए वह राग-द्वेष, सुख-दुख जैसी अप्रिय अवस्थाओं को भी अपनी स्वीकार करता है, उनके कर्तृत्व और भोक्तृत्व को भी स्वीकार करता है; उन्हें कर्मकृत या परकृत कहकर उनका उत्तरदायित्व दूसरों पर नहीं थोपता।

प्रत्येक जीव को यह समझाना ही इस नय का प्रयोजन है कि यद्यपि परपदार्थ और उसके भावों का कर्त्ता-भोक्ता या उत्तरदायी यह आत्मा नहीं है, तथापि रागादि विकारीभावरूप अपराध स्वयं की भूल से स्वयं में स्वयं हुए हैं; अतः उनका कर्त्ता-भोक्ता या उत्तरदायी यह आत्मा स्वयं है।

जब यह आत्मा परद्रव्यो से भिन्न और अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न – अपने को जानने लगा, तब इसे क्रमशः पर्यायों से भी भिन्न त्रिकाली ध्रुव-स्वभाव की ओर ले जाने के लक्ष्य से एकदेशशुद्धनिश्चयनय से यह कहा कि जो पर्याय पर के लक्ष्य से उत्पन्न हुई, जिसकी उत्पत्ति में कर्मादिक परपदार्थ निमित्त हुए, जो पर्याय दुखस्वरूप है; उसे तू अपनी क्यों मानता है ? तेरा आत्मा तो ज्ञान और आनंद पर्याय को उत्पन्न करे – ऐसा है। जो पर्याय स्व को विषय बनाये, स्व में लीन हो; वही अपनी हो सकती है। ज्ञानी तो उसी का कर्त्ता-भोक्ता हो सकता है। रागादि विकारी पर्यायों को अपना कहना तो स्वयं को विकारी बनाना है, अज्ञानी बनाना है; क्योंकि विकार का कर्त्ता-भोक्ता विकारी ही हो सकता है। ये तो अज्ञानमय भाव हैं, इनका कर्त्ता-भोक्ता स्वामी तो अज्ञानी ही हो सकता है। भले ही ये अपने में पैदा हुए हों, पर ये अपने नहीं हो सकते – इसप्रकार विकार से हटाने के लिए निर्मलपर्याय से अभेद स्थापित किया।

निर्मलपर्याय से भी अभेद स्थापित करना मूल प्रयोजन नहीं है, मूल प्रयोजन तो त्रिकाली द्रव्यस्वभाव तक ले जाना है, उसमें ही अहंबुद्धि स्थापित करना है; पर भाई ! एक साथ यह सब कैसे हो सकता है ? अतः धीरे-धीरे बात कही जाती है। 'तू तो निर्मलपर्याय का धनी है, कर्त्ता है, भोक्ता है; विकारी पर्याय का नहीं' – यह एकदेशशुद्धनिश्चयनय का कथन एक पड़ाव है, गन्तव्य नहीं। यह आत्मा एकबार राग को तो अपना मानना छोड़े, फिर निर्मलपर्याय से भी आगे ले जायेंगे। राग तो निषेध

करने योग्य है न ? यदि राग निषेध करने योग्य है, तो वह अपना कैसे हो सकता है ? जो निषेध्य है, वह मैं नहीं हो सकता, मैं तो प्रतिपाद्य हूँ। राग निषेध्य है, अतः व्यवहार है। निर्मलपर्याय करने योग्य है, प्राप्त करने योग्य है, इसलिए निश्चय है। निर्मलपर्यायरूप निश्चय विकाररूप व्यवहार का निषेध करता हुआ, उसका अभाव करता हुआ उदय को प्राप्त होता है।

इसप्रकार एकदेशशुद्धनिश्चयनय का प्रयोजन निर्मलपर्याय से त्रिकाली ध्रुव की एकता स्थापित कर, विकारी पर्याय से पृथक्ता स्थापित करना है।

विकारीपर्याय से पृथक्ता स्थापित हो जाने पर अब कहते हैं कि एकदेशशुद्धनिश्चयनय ने विकारी पर्याय से पृथक्ता बताने के लिए जिस निर्मलपर्याय के साथ अभेद स्थापित किया था, वह भी अपूर्ण होने से आत्मा के स्वभाव की सीमा में कैसे आ सकती है ? आत्मा का स्वभाव तो परिपूर्ण है, उसके आश्रय से तो पर्याय में भी पूर्णता ही प्रगट होना चाहिए। यदि परिपूर्ण स्वभाव का परिपूर्ण आश्रय हो तो फिर अपूर्ण पर्याय क्यों प्रगटे ? पर्याय की यह अपूर्णता परिपूर्ण स्वभाव के अनुरूप नहीं है, अनुकूल भी नहीं है। अतः इसे भी उसमें कैसे मिलाया जा सकता है, कैसे मिलाये रखा जा सकता है ? एकदेशशुद्धनिश्चयनयरूप साधकदशा तो प्रस्थान है, पहुँचना नहीं; पथ है, गन्तव्य नहीं; साधन है, साध्य नहीं। तथा मैं तो परिपूर्ण केवलज्ञानस्वभावी हूँ, मैं तो अनंत अतीन्द्रिय-आनंद का कर्त्ता-भोक्ता हूँ, मैं तो अनंतचतुष्टयलक्ष्मी का स्वामी हूँ। आखिर इस क्षयोपशमभाव से मुझे क्या लेना-देना ? और इसका भरोसा भी क्या ? आज का क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि कल मिथ्यादृष्टि बन सकता है। आज का अच्छा-भला विद्वान कल स्मृति-भंग होने से अल्पज्ञ रह सकता है। आज का क्षयोपशमसंयमी कल असंयमी हो सकता है।

निर्मल हुई तो क्या, इस अपूर्ण एवं क्षणध्वंशी पर्याय से मुझे क्या ? यह तो आनी-जानी है। मेरे जैसे स्थायीतत्त्व का एकत्व, स्वामित्व, कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व तो क्षायिकभावरूप चिरस्थायी अनन्तचतुष्टयादि से ही हो सकता है।

इसप्रकार जब निर्मलपर्याय से भी पृथक्ता स्थापित कर पूर्णशुद्ध क्षायिकपर्याय से युक्त द्रव्यग्राही शुद्धनिश्चयनय प्रगट होता है, तब एकदेशशुद्धपर्याय निषिद्ध हो जाती है; निषिद्ध हो जाने से व्यवहार हो जाती है।

इसप्रकार अपने प्रयोजन की सिद्धि करता हुआ एकदेशशुद्धनिश्चयनय भी निषिद्ध होकर व्यवहारपने को प्राप्त हो जाता है; और साक्षात्शुद्धनिश्चयनय प्रगट होता है।

यद्यपि क्षायिकभाव स्थायी है, अनन्त है; तथापि अनादि का तो नहीं। मैं तो अनादि-अनन्त तत्त्व हूँ। इस क्षायिकपर्याय से भी क्या महिमा है मेरी? मैं तो ऐसा महिमावन्त पदार्थ हूँ कि जिसमें केवलज्ञान जैसी अनन्तपर्यायें निकल जावे तो भी मुझमें कोई खूट (कमी) आनेवाली नहीं। मैं तो अखूट-अटूट पदार्थ हूँ। केवलज्ञानादि क्षायिकभाव भी सन्तति की अपेक्षा भले ही अनंतकाल तक रहनेवाले हों, पर वस्तुतः तो पर्याय होने से एकसमय मात्र के ही हैं। मैं क्षायिकभाव जितना तो नहीं, ये तो मुझमें उठनेवाली तरंगें मात्र हैं। सागर तरंगमात्र तो नहीं हो सकता। यद्यपि तरंगें सागर में ही उठती हैं, तथापि तरंगों को सागर नहीं कहा जा सकता। सागर की गंभीरता, सागर की विशालता – इन लहरों में कहाँ? सागर सागर है और लहरें लहरें। सागर लहरें नहीं, और लहरें सागर नहीं। खरा सत्य तो यही है, परमार्थ तो यही है – इसप्रकार परमभावग्राहीशुद्धनिश्चयनय शुद्धनिश्चयनय या साक्षात्शुद्धनिश्चयनय का भी निषेध करता हुआ उदित होता है और साक्षात्शुद्धनिश्चयनय भी व्यवहार बनकर रह जाता है।

इसप्रकार निश्चयनय के ये भेद-प्रभेद परमशुद्धनिश्चनय के विषयभूत त्रिकाली ध्रुवतत्त्व तक ले जाते हैं। सभीप्रकार के निश्चयनयों का वास्तविक प्रयोजन तो यही है। इसी ध्येय के पूरक और भी अनेक प्रयोजन होते हैं, हो सकते हैं; पर मूल प्रयोजन यही है।

'न तथा' शब्द से सबका निषेध करनेवाला परमशुद्धनिश्चयनय कभी भी किसी भी नय द्वारा निषिद्ध नहीं होता, अतः वह कभी भी व्यवहारपने को प्राप्त नहीं होता, किन्तु वह सबका निषेध करके स्वयं निवृत्त हो जाता है और निर्विकल्पक आत्मानुभूति का उदय होता है। वास्तव में यह आत्मानुभूति की प्राप्ति ही इस संपूर्ण प्रक्रिया का फल है।

(१०) **प्रश्न :**– यदि निश्चयनय के इन भेदों को स्वीकार न करें तो?

उत्तर :– निश्चयनय के इन भेद-प्रभेदों को यदि आप कथंचित् अस्वीकार करना चाहते हो तो कोई आपत्ति नहीं, हमें भी इष्ट है। उनका कथंचित् निषेध तो हम भी करते ही आए हैं, क्योंकि पूर्व के निषेध बिना आगे का नय बनता ही नहीं है। पर यदि आप उनका सर्वथा निषेध करना चाहते हैं तो अनेक आपत्तियाँ खड़ी हो जावेंगी।

अशुद्धनिश्चयनय के सर्वथा निषेध से आत्मा में रागादिभाव रहेंगे ही नहीं। ऐसा होने पर आस्रव, बंध, पुण्य और पापतत्त्व का अभाव हो जाने से संसार का ही अभाव हो जावेगा। संसार का अभाव होने से मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा, क्योंकि मोक्ष संसारपूर्वक ही तो होता है।

दूसरे रागादिभाव भी आत्मा से वैसे ही भिन्न सिद्ध होंगे, जैसे कि अन्य परद्रव्य; जो कि प्रत्यक्ष से विरुद्ध है। मृत्यु के बाद देहादि परपदार्थ यहाँ रह जाते हैं, पर राग-द्वेष साथ जाते हैं।

एकदेशशुद्धनिश्चयनय नहीं मानने से साधकदशा का ही अभाव मानना होगा। साधकदशा का नाम ही तो मोक्षमार्ग है, अतः मोक्षमार्ग ही न रहेगा। मोक्षमार्ग नहीं होगा तो मोक्ष कहाँ से होगा ? मोक्ष और मोक्षमार्ग के अभाव में संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी।

इसीप्रकार शुद्धनिश्चयनय नही मानने पर क्षायिकभाव के अभाव होने से मोक्ष और मोक्षमार्ग का अभाव सिद्ध होगा, क्योंकि फिर तो एक मात्र परमभावग्राही शुद्धनय रहेगा और उसकी दृष्टि से तो बंध-मोक्ष है ही नहीं।

दूसरी बात यह है कि परमशुद्धनय के विषयभूत त्रिकाली शुद्धात्मा के स्वरूप का निश्चय भी शुद्धनय के विषयभूत क्षायिकभावरूप प्रकट पर्यायों के आधार पर होता है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' में आत्मा के त्रिकाली स्वभाव को सिद्धपर्याय के समान परिपूर्ण ही तो बताया गया है। अतः यदि क्षायिकभाव को विषय बनानेवाले शुद्धनय को स्वीकार न करेंगे, तो फिर परमशुद्धनय के विषयभूत त्रिकाली द्रव्य का निर्णय कैसे होगा ?

अतः यदि सर्व लोप की इस महान आपत्ति से बचना चाहते हो तो ऐसे एकान्त का हठ मत करो।

(११) **प्रश्न :–** यदि ऐसी बात है तो आप कथंचित् भी निषेध क्यों करते हो ?

उत्तर :– यदि कथंचित् भी निषेध न करें तो अनादि का छिपा हुआ त्रिकाली परमतत्त्व छिपा ही रहेगा। वह हमारी दृष्टि का विषय नहीं बन पायेगा। जब वह दृष्टि का विषय नहीं बनेगा तो मोक्षमार्ग का आरंभ ही न होगा और जब मोक्षमार्ग का आरंभ नहीं होगा तो मोक्ष कैसे होगा ?

इसप्रकार हम देखते हैं कि कथंचित् भी निषेध नहीं करने से वे ही आपत्तियाँ खड़ी हो जाती हैं, जो सर्वथा निषेध करने से होती थीं ।

(१२) **प्रश्न** :– कथंचित् भी निषेध न करने से त्रिकालीतत्त्व दृष्टि का विषय क्यों नहीं बन पावेगा और सर्वथा निषेध से होनेवाली आपत्तियाँ कैसे खड़ी हो जावेंगी ?

उत्तर :– भाई ! यह बात तो नौवें प्रश्न के उत्तर में विस्तार से स्पष्ट की जा चुकी है कि एकदेशशुद्धनिश्चयनय अशुद्धनिश्चयनय का तथा शुद्धनिश्चयनय एकदेशशुद्धनिश्चयनय का निषेध करता हुआ उदित होता है । इसीप्रकार परमशुद्धनिश्चयनय भी शुद्धनिश्चयनय का अभाव करता हुआ उदय को प्राप्त होता है और अन्त में स्वयं निभृत हो जाता है, तब आत्मसाक्षात्कार होता है, आत्मानुभूति प्रगट होती है ।

अतः यदि हम उन्हें कथंचित् भी निषेध्य स्वीकार न करें तो फिर आत्मानुभूति कैसे प्रगट होगी ? आत्मानुभूति प्रगट होने की प्रक्रिया तो उत्तरोत्तर निषेध की प्रक्रिया ही है ।

दृष्टि का विषय त्रिकालीशुद्धात्मतत्त्व तो आत्मानुभूति में ही प्रगट होता है । अतः जब उत्तरोत्तर निषेध की प्रक्रिया से प्रगट होनेवाली आत्मानुभूति ही नहीं होगी तो फिर वह त्रिकालीपरमतत्त्व तो छिपा ही रहेगा ।

तथा जब आत्मानुभूति ही प्रगट नहीं होगी तो मोक्षमार्ग भी नहीं बनेगा, क्योंकि मोक्षमार्ग का आरंभ तो आत्मानुभूति की दशा में ही होता है । जब मोक्षमार्ग ही नहीं बनेगा तो मोक्ष कहाँ से होगा ?

इसप्रकार यह निश्चित है कि कथंचित् भी निषेध नहीं करने से वे सभी आपत्तियाँ खड़ी हो जावेंगी, जो सर्वथा निषेध करने से होती थी ।

निश्चयनय के उक्त भेद न तो सर्वथा निषेध्य हैं और न सर्वथा अनिषेध्य । प्रत्येक नय अपने-अपने प्रयोजन की सिद्धि करनेवाला होने से स्वस्थान में निषेध करने योग्य नहीं है । प्रयोजन की सिद्धि हो जाने पर उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है, अतः उसका निषेध करना अनिवार्य हो जाता है । यदि उसका निषेध न करें तो उत्तरोत्तर विकास की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है । अतः तत्संबंधी प्रयोजन की सिद्धि हो जाने पर, आगे बढ़ने के लिए – आगे के प्रयोजन की सिद्धि के लिए पूर्वकथित नय का निषेध एवं आगे के नय का प्रतिपादन इष्ट हो जाता है ।

इसप्रकार स्याद्वाद ही शरण है, अन्य कोई रास्ता नहीं है; अधिक विकल्पों से कोई लाभ नहीं होगा। वस्तु बड़ी अद्भुत है, इसलिए उसकी बात भी अद्भुत है। अतः विकल्पों का शमन करके निर्विकल्प होने में ही सार है। वस्तु निर्विकल्प है, अतः उसकी प्राप्ति भी निर्विकल्पदशा में ही होती है।

यदि आप निश्चयनय के भेद-प्रभेदों के सम्बन्ध में उक्त स्याद्वाद को शरण न लेंगे तो सात तत्त्वों की भी सिद्धि सम्भव न होगी।

(१३) **प्रश्न** :– निश्चयनय के भेद-प्रभेदों के सम्बन्ध में उक्त स्याद्वाद को स्वीकार न करने पर सप्ततत्त्व की सिद्धि में क्या बाधा आवेगी ? क्या सात तत्त्वों के निर्धारण में निश्चयनय के उक्त भेद-प्रभेदों का कोई हाथ है ? यदि हाँ, तो क्या और कैसे ? कृपया स्पष्ट करें।

उत्तर :– प्रत्येक द्रव्य परद्रव्यों एवं उनके गुण-पर्यायों से भिन्न तथा अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न है – सामान्यतः यह कथन निश्चयनय का है। किसी द्रव्य को, अन्यद्रव्य और उनके भावों से अभिन्न कहना या अन्यद्रव्य के भावों का कर्त्ता-हर्त्ता कहना व्यवहारनय का वचन है।

निश्चयकथन भूतार्थ है और व्यवहारकथन प्रयोजनवश किया गया उपचरितकथन है। व्यवहारकथन प्रयोजनपुरतः ही भूतार्थ है, वस्तुतः तो वह अभूतार्थ ही है। इसप्रकार दो द्रव्यों के बीच अत्यन्ताभाव की मोटी दीवार है, कोई किसी का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता नहीं है। सभी द्रव्य अपनी-अपनी अच्छी-बुरी परिणति के उत्तरदायी स्वयं हैं।

सब द्रव्यों के सम्बन्ध में यह महासत्य त्रिकाल अबाधित है, द्रव्यों की अनन्त स्वतंत्रता का उद्घोषक है।

समयसार, गाथा ३ की टीका में आचार्य अमृतचंद्र ने इस महासत्य की घोषणा इसप्रकार की है :–

"समयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते। समयत एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः। ततः सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावंतः केचनाऽप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यांतर्मग्नानन्तस्वधर्मचक्रचुम्बिनोऽपि परस्परमचुम्बंतोऽत्यंतप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतंतः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानंतव्यक्तित्वाट्टंकोत्कीर्णा इव तिष्ठंतः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णंतो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौंदर्यमापद्यंते, प्रकारान्तरेण सर्वसंकरादिदोषापत्तेः।

यहाँ 'समय' शब्द से सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं, क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार 'समयते' अर्थात् एकीभाव से (एकत्वपूर्वक) अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होकर जो परिणमन करता है, सो समय है। इसीलिए धर्म-अधर्म-आकाश-काल-पुद्गल-जीवद्रव्यस्वरूप लोक में सर्वत्र जो कुछ जितने पदार्थ हैं, वे सभी निश्चय से (वास्तव में) एकत्वनिश्चय को प्राप्त होने से ही सुन्दरता को पाते हैं; क्योंकि अन्य प्रकार से उनमें सर्वसंकरादि दोष आ जायेंगे। वे सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहने वाले अपने अनन्तधर्मों के चक्र को (समूह को) चुम्बन करते हैं – स्पर्श करते हैं, तथापि वे परस्पर एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते। अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं, तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते। पररूप परिणमन न करने से अनन्त-व्यक्तिता नष्ट नहीं होती, इसलिए वे टंकोत्कीर्ण की भाँति (शाश्वत) स्थित रहते हैं और समस्त विरुद्ध कार्य तथा अविरुद्ध कार्य दोनों की हेतुता से वे सदा विश्व का उपकार करते हैं – टिकाये रखते है।"

आगम के इस महासत्य की ठोस दीवार को आधार बनाकर परमागम अर्थात् अध्यात्म, आत्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति के प्रयोजन से निश्चयनय की उक्त परिधि को भी भेदकर द्रव्यस्वभाव की सीमा से पर्याय को पृथक् कर, गुणभेद से भी भिन्न अभेद अखण्ड त्रिकाली आत्मतत्त्व को जीव कहता है; क्योंकि वही दृष्टि का विषय है, वही ध्यान का ध्येय है और वही परमशुद्ध-निश्चयनय का विषय है।

यद्यपि अशुद्धनिश्चयनय से रागादिभाव आत्मा की ही विकारी पर्यायें हैं, तथापि शुद्धनिश्चयनय उन्हें स्वीकार नहीं करता। उन्हें पुद्गलकर्म के उदय से उत्पन्न हुए होने के कारण निमित्त की अपेक्षा से पुद्गल तक कह दिया जाता है। किन्तु एक तो वे पुद्गल में होते देखे नहीं जाते हैं, दूसरे यदि उन्हें पुद्गल का माना जाएगा तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं; एक द्रव्य दूसरे भावों का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं – इस महासिद्धान्त का लोप होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। अतः न उन्हे जीवतत्त्व में ही सम्मिलित माना जा सकता है और न पुद्गलरूप अजीवतत्त्व में ही। यही कारण है कि उन्हें आस्रवादितत्त्व के रूप में दोनों से पृथक् ही रखा गया है। इसप्रकार जिनवाणी में रागादिभाव आस्रव, बन्ध, पुण्य व पापरूप स्वतंत्रतत्त्व के रूप में उल्लिखित हुए हैं।

इसीप्रकार अपूर्णशुद्धपर्यायें संवर व निर्जरा तथा पूर्णशुद्धपर्याय मोक्षतत्त्वरूप स्वतन्त्रतत्त्व के रूप में उल्लिखित हुए हैं, क्योंकि पर्यायें होने से इन्हें भी दृष्टि के विषय में शामिल नहीं किया जा सकता है।

द्रव्यास्रवादि और द्रव्यसंवरादि के सम्बन्ध में भी इसीप्रकार जानना चाहिए, क्योंकि यद्यपि वे वस्तुतः तो पुद्गल की ही पर्यायें हैं, तथापि उनमें जीव के रागादि विभाव और वीतरागादि स्वभावभाव निमित्त होते हैं।

इसप्रकार भावास्रवादि व भावसंवरादिरूप जीव की पर्यायों एवं द्रव्यास्रवादि व द्रव्यसंवरादिरूप अजीव की पर्यायों को सम्मिलित कर पर्यायरूप आस्रवादि व संवरादि तत्त्वों को पृथक् रखना ही उचित है; क्योंकि न तो उन्हें परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत जीवद्रव्य में ही शामिल किया जा सकता है और न उन्हें सर्वथा पुद्गल ही माना जा सकता है। परस्परोपाधि से हुए होने से उन्हें औपाधिकभाव भी कहा जाता है।

परजीवों, पुद्गलादि-अजीवों तथा आस्रवादि-पर्यायतत्त्वों से भी भिन्न निजशुद्धात्मतत्त्व ही वास्तविक निश्चय अर्थात् परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है।

नवतत्त्वों में छुपी हुई, परन्तु नवतत्त्वों से पृथक् आत्मज्योति ही शुद्धात्मतत्त्व है[1]। इस शुद्धात्मतत्त्व को दृष्टि, ज्ञान और ध्यान का विषय बनाना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, मोक्षमार्ग है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही अध्यात्मरूप परमागम निश्चयनय के उक्त भेद-प्रभेद करता है और फिर उन भेद-प्रभेदों में एक परमशुद्धनिश्चयनय को ही परमार्थ – निश्चय स्वीकार कर निश्चयनय के अन्य भेदों को व्यवहार कहकर अभूतार्थ कह देता है अर्थात् उनका निषेध कर देता है।

आत्मा के अनुभवरूप प्रयोजन की सिद्धि परमागम की उक्त प्रक्रिया से ही संभव है।

आगम में छह द्रव्यों की मुख्यता से और अध्यात्मरूप परमागम में आत्मद्रव्य की मुख्यता से कथन होता है।

(१४) **प्रश्न :–** आपने अभी-अभी अध्यात्म को परमागम कहा है, इसका उल्लेख कहीं आगम में भी है क्या ?

उत्तर :– हाँ, है। आचार्य जयसेन प्रवचनसार, गाथा २३२ की टीका में '**णिच्छित्ती आगमदो**' पद की व्याख्या करते हुए लिखते हैं :–

---

[1] 'नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति' – समयसार, कलश ७

"णिच्छित्ती आगमदो, सा च पदार्थनिश्चित्तिरागमतो भवति। तथाहि – जीवभेद कर्मभेदप्रतिपादकागमाभ्यासाद्भवति, न केवलमागमाभ्यासात्तथैवागमपदसारभूताच्चिदानन्दैकपरमात्मतत्त्वप्रकाशकादध्यात्माभिधानात्परमागमाच्च पदार्थपरिच्छित्तिर्भवति।

'णिच्छित्ती आगमदो' अर्थात् पदार्थों का निश्चय आगम से होता है। इसी बात का विस्तार करते हैं कि जीवभेद और कर्मभेद के प्रतिपादक आगम के अभ्यास से पदार्थों का निश्चय होता है। परन्तु न केवल आगम के अभ्यास से बल्कि समस्त आगम के सारभूत चिदानन्द एक परमात्मतत्त्व के प्रकाशक अध्यात्म नाम के परमागम से भी पदार्थों का ज्ञान होता है।"

(१५) प्रश्न :– आपने कहा कि इसीप्रकार द्रव्यास्रवादि को भी समझना चाहिए; तो क्या जिसप्रकार भावास्रवादिरूप राग-द्वेषादिभावों को पुद्गल कहा जाता है, उसीप्रकार द्रव्यास्रवादि को जीव भी कहा जा सकता है? यदि हाँ, तो क्या कहीं आगम में भी ऐसा उल्लेख है? और यदि नहीं है तो क्यों नहीं है?

उत्तर :– जब पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से होनेवाले जीव के विकारी भावों को पुद्गल कहा जा सकता है तो फिर जीव के विकारी भावों के निमित्त से होनेवाले द्रव्यास्रवादि को जीव कहने में क्या आपत्ति हो सकती है?

यद्यपि दोनों पक्षों में समान अपेक्षा है; तथापि परमागम में रागादिरूप भावास्रवादि को पुद्गल तो कहा गया है, किन्तु द्रव्यास्रवादिरूप से परिणमित कार्मणवर्गणाओं को आगम में जीव नहीं कहा गया है।

इसका कारण है कि आचार्यों की दृष्टि आत्महित की रही है। अतः आत्महित की दृष्टि से अध्यात्म नामक आगम के भेद परमागम में रागादि को पुद्गल तो कहा गया है; परन्तु पुद्गल के हित और अहित की कोई समस्या न होने से 'अधि+आत्म=अध्यात्म' के समान कोई अधिपुद्गल नामक भेद आगम में नहीं है, जिसमें द्रव्यास्रवादि को जीव कहा जाता। यही कारण है कि द्रव्यास्रवादि को जीव कहनेवाले कथन उपलब्ध नहीं होते। इसप्रकार के कथनों का कोई प्रयोजन भी नहीं है और आवश्यकता भी नहीं है।

परमागम आगम का ही अंश है, जिसे अध्यात्म भी कहते हैं। अध्यात्म में रंग, राग और भेद से भी भिन्न परमशुद्धनिश्चयनय व दृष्टि

के विषयरूप एवं ध्यान के ध्येयरूप, परमपारिणामिकभावस्वरूप त्रैकालिक व अभेदस्वरूप निजशुद्धात्मा को ही जीव कहा जाता है। इसके अतिरिक्त सभी भावों को अनात्मा, अजीव, पुद्गल आदि नामों से कह दिया जाता है। इसका एकमात्र प्रयोजन दृष्टि को पर, पर्याय व भेद से भी हटाकर निजशुद्धात्मतत्त्व पर लाना है, क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णता निजशुद्धात्मतत्त्व के आश्रय से ही होती है। अध्यात्मरूप परमागम का समस्त कथन इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर होता है।

इस संदर्भ में समयसार, गाथा ३२० पर आचार्य जयसेन की टीका[1] के पश्चात् का निम्नलिखित अंश दृष्टव्य है :–

"औपशमिकादिपंचभावानां मध्ये केन भावेन मोक्षो भवतीति विचार्यते। तत्रौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकौदयिकभावचतुष्टयं पर्यायरूपं भवति शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूप इति। तच्च परस्परसापेक्षं द्रव्यपर्यायद्वयमात्मा पदार्थो भण्यते। तत्र तावज्जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वत्रिविधपारिणामिकभावमध्ये शुद्धजीवत्वं शक्तिलक्षणं। यत्पारिणामिकत्वं तच्छुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रितत्वान्निरावरणं शुद्धपारिणामिकभावसंज्ञं ज्ञातव्यं, तत्तु बंधमोक्षपर्यायपरिणतिरहितं। यत्पुनर्दशप्राणरूपं जीवत्वं भव्याभव्यत्वद्वयं तत्पर्यायार्थिकनयाश्रितत्वादशुद्धपारिणामिकभावसंज्ञमिति।

कथमशुद्धमिति चेत् ?

संसारिणां शुद्धनयेन सिद्धानां तु सर्वथैव दशप्राणरूपजीवत्वभव्याभव्यत्वद्वयाभावादिति। तस्य त्रयस्य मध्ये भव्यत्वलक्षणपारिणामिकस्य तु यथासंभवं च सम्यक्त्वादिजीवगुणघातकं देशघातिसर्वघातिसंज्ञं मोहादिकर्मसामान्यं पर्यायार्थिकनयेन प्रच्छादकं भवति इति विज्ञेयं। तत्र च यदाकालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदायं जीवः सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायरूपेण परिणमति। तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकं भावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते।

स च पर्यायः शुद्धपारिणामिकभावलक्षणशुद्धात्मद्रव्यात्कथंचिद्भिन्नः। कस्मात् ? भावनारूपत्वात्। शुद्धपारिणामिकस्तु भावनारूपो न भवति।

---

[1] इस टीका पर पू० कानजी स्वामी के प्रवचन 'ज्ञानचक्षु' नामक पुस्तक द्वारा गुजराती में प्रकाशित हो चुके हैं।

यद्येकांतेनाशुद्धपारिणामिकावभिन्नो भवति, तदास्य भावनारूपस्य मोक्षकारणभूतस्य मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति शुद्धपारिणामिकभावस्यापि विनाशः प्राप्नोति, न च तथा ।

ततः स्थितं – शुद्धपारिणामिकभावविषये या भावना तद्रूपं यदौपशमिकादिभावत्रयं तत्समस्तरागादिरहितत्वेन शुद्धोपादानकारणत्वान्मोक्षकारणं भवति, न च शुद्धपारिणामिकः । यस्तु शक्तिरूपो मोक्षः स च शुद्धपारिणामिके पूर्वमेव तिष्ठति । अयं तु व्यक्तिरूपमोक्षविचारो वर्तते । तथा चोक्तं सिद्धान्ते – 'निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः' ।

निष्क्रिय इति कोऽर्थः ?

बंधकारणभूता या क्रिया रागादिपरिणतिः, तद्रूपो न भवति । मोक्षकारणभूता च क्रिया शुद्धभावनापरिणतिस्तद्रूपश्च न भवति ।

ततो ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति ।

कस्मात् ?

ध्यानस्य विनश्वरत्वात् । तथा योगीन्द्रदेवैरप्युक्तं –

ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ, बंधु ण मोक्खु करेइ ।
जिउ परमत्थे जोइया, जिणवरु एउ भणेइ ।।१।।

किं च विवक्षितैकदेशशुद्धनयाश्रितेयं भावना निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणक्षायोपशमिकज्ञानत्वेन यद्यप्येकदेशव्यक्तिरूपा भवति, तथापि ध्याता पुरुषः यदेव सकलनिरावरणमखंडैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयमविनश्वरं शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणं निजपरमात्मद्रव्यं तदेवाहमिति, न च खंडज्ञानरूपमिति भावार्थः ।

इदं तु व्याख्यानं परस्परसापेक्षागमाध्यात्मनयद्वयाभिप्रायस्याविरोधेनैव कथितं सिद्धयतीति ज्ञातव्यं विवेकिभिः ।

औपशमिकादि पाँच भावों में से किस भाव के द्वारा मोक्ष होता है – यह विचार करते हैं ।

इन पाँच भावों में औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक व औदयिकभाव तो पर्यायरूप हैं, एक शुद्धपारिणामिकभाव ही द्रव्यरूप है । पदार्थ परस्परसापेक्ष द्रव्य-पर्यायमय है । वहाँ जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व – इन तीन पारिणामिकभावों में शुद्धजीवत्वशक्तिलक्षणवाला पारिणामिकभाव शुद्धद्रव्यार्थिकनय के आश्रित होने से निरावरण है तथा शुद्धपारिणामिक-

भाव के नाम से जाना जाता है; वह बंध-मोक्षरूपपर्याय से रहित है। तथा पर्यायार्थिकनय के आश्रित होने से दशप्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व अशुद्धपारिणामिकभाव हैं।

प्रश्न :– ये तीनों भाव अशुद्ध क्यों हैं ?

उत्तर :– संसारी जीवों के शुद्धनय से व सिद्ध जीवों के सर्वथा ही दशप्राणरूपजीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व – इन तीनों पारिणामिकभावों का अभाव होने से ये तीनों भाव अशुद्ध हैं। इन तीनों में पर्यायार्थिकनय से भव्यत्वलक्षण पारिणामिकभाव के प्रच्छादक व यथासंभव सम्यक्त्वादि जीवगुणों के घातक देशघाति और सर्वघाति नाम के मोहादि कर्मसामान्य होते हैं। और जब कालादिलब्धि के वश से भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति अर्थात् प्रगटता होती है तब यह जीव सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणवाले निजपरमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप पर्याय से परिणमित होता है। उसी परिणमन को आगमभाषा में औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभाव और अध्यात्मभाषा में शुद्धात्माभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग आदि नामान्तरों से अभिहित किया जाता है।

यह शुद्धोपयोगरूप पर्याय शुद्धपारिणामिकभावलक्षणवाले शुद्धात्मद्रव्य से कथञ्चित् भिन्न है, क्योंकि वह भावनारूप होती है और शुद्धपारिणामिकभाव भावनारूप नहीं होता। यदि उसे एकान्त से अशुद्धपारिणामिकभाव से अभिन्न मानेंगे तो भावनारूप एवं मोक्षकारणभूत अशुद्धपारिणामिकभाव का मोक्ष-अवस्था में विनाश होने पर शुद्धपारिणामिकभाव के भी विनाश का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, परन्तु ऐसा कभी होता नहीं है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि शुद्धपारिणामिकभावविषयक भावना अर्थात् जिस भावना या भाव का विषय शुद्धपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा है, वह भावना औपशमिकादि तीनों भावोंरूप होती है, वही भावना समस्त रागादिभावों से रहित शुद्ध-उपादानरूप होने से मोक्ष का कारण होती है, शुद्धपारिणामिकभाव मोक्ष का कारण नहीं होता और जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह तो शुद्धपारिणामिकभाव में पहले से ही विद्यमान है। यहाँ तो व्यक्तिरूप अर्थात् पर्यायरूप मोक्ष का विचार किया जा रहा है। सिद्धान्त में भी ऐसा कहा है – **'निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः'** अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव निष्क्रिय है।

'निष्क्रिय' शब्द से तात्पर्य है कि शुद्धपारिणामिकभाव बंध की कारणभूत रागादि परिणतिरूप क्रिया व मोक्ष की कारणभूत शुद्धभावना-परिणतिरूप क्रिया से तद्रूप या तन्मय नहीं होता।

इससे यह प्रतीत होता है कि शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयरूप होता है, ध्यानरूप नहीं होता; क्योंकि ध्यान विनश्वर होता है।

योगीन्द्रदेव ने भी कहा है :–

हे योगी ! परमार्थदृष्टि से तो यह जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है और न बंधमोक्ष को करता है – ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

दूसरी बात यह है कि विवक्षित-एकदेशशुद्धनिश्चयनय के आश्रित यह भावना निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणवाले क्षायोपशमिकज्ञानरूप होने से यद्यपि एकदेशव्यक्तिरूप होती है, तथापि ध्यातापुरुष यही भावना करता है कि – **'मैं तो सकलनिरावरण, अखण्ड, एक, प्रत्यक्षप्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्धपारिणामिक, परमभावलक्षणवाला निजपरमात्मद्रव्य ही हूँ, खण्डज्ञानरूप नहीं हूँ'** ।

उपर्युक्त सभी व्याख्यान आगम और अध्यात्म (परमागम) – दोनों प्रकार के नयों के परस्पर-सापेक्ष अभिप्राय के अविरोध से सिद्ध होता है – ऐसा विवेकियों को समझना चाहिए।

(१६) **प्रश्न** :– जब भावना एकदेशव्यक्तिरूप है तो ध्यातापुरुष ऐसी भावना क्यों करता है कि **'मैं सकलनिरावरण, अखण्ड, एक, प्रत्यक्षप्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्धपारिणामिक, परमभावलक्षणवाला निजपरमात्मद्रव्य हूँ, खण्डज्ञानरूप नहीं हूँ।'** – ऐसी भावना तो सत्य नहीं है ?

उत्तर :– इसमें क्या असत्य है ? क्योंकि ध्यातापुरुष ने अपना अहं (एकत्व) परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मद्रव्य में ही स्थापित किया है। वह शुद्धात्मद्रव्य खण्डज्ञानरूप न होकर अखण्ड है, अविनश्वर है, शुद्ध है, सकलनिरावरण, प्रत्यक्षप्रतिभासमय और परमपारिणामिक-भावलक्षणवाला है। अतः ध्यातापुरुष की उक्त भावना सर्वप्रकार से उचित है, सत्य है।

रही एकदेशव्यक्तितता की बात, सो वह एकदेशव्यक्तितता तो पर्याय में है, स्वभाव तो सदा परिपूर्ण ही है। स्वभाव में तो अपूर्णता की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

ध्यातापुरुष के ध्यान का ध्येय, श्रद्धान का श्रद्धेय (दृष्टि का विषय) और परमशुद्धनिश्चयनयरूप ज्ञान का ज्ञेय तो पर और पर्यायों से भिन्न निजशुद्धात्मद्रव्य ही है, उसके आश्रय से ही निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्याय उत्पन्न होती है।

इसप्रकार ध्येय, श्रद्धेय व परमज्ञेयरूप निजशुद्धात्मद्रव्य ही उक्त भावना का भाव्य है और निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही उक्त भाव्य के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली भावना है।

यहाँ 'भावना' शब्द का अर्थ कोरी भावना नहीं है, अपितु आत्माभिमुख स्वसंवेदनरूप परिणमन है। निर्विकार स्वसंवेदनरूप होने से इस भावना का ही दूसरा नाम निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

यद्यपि यह भावना भी पवित्र है, तथापि ध्यातापुरुष इसमें एकत्व स्थापित नहीं करता; क्योंकि यह पवित्र तो है पर पूर्णपवित्र नहीं, एकदेश पवित्र है। अपूर्णता के लक्ष्य से पर्याय में पूर्णता की प्राप्ति नहीं होती। आत्मा तो परिपूर्ण पदार्थ है, पवित्र पदार्थ है, परिपूर्ण पवित्र पदार्थ है; तो वह अपूर्णता में, अपूर्ण पवित्रता में अहं कैसे स्थापित कर सकता है।

यही कारण है कि यद्यपि भावना एकदेशनिर्मलपर्यायरूप है, तथापि ध्यातापुरुष उसमें एकत्व स्थापित नहीं करता। ध्याता का एकत्व तो उस त्रिकाली ध्रुव के साथ होता है, जिसके आश्रय से भावनारूप उक्त पर्याय की उत्पत्ति होती है।

(१७) **प्रश्न** :- एकदेशशुद्धनिश्चयनय का विषय होने से उक्त भावना एकदेशव्यक्तिरूप है और एकदेशनिर्मल अर्थात् अपूर्ण पवित्र होने के कारण ही यदि ध्यातापुरुष इसमें अहं स्थापित नहीं करता है तो फिर उसे शुद्धनिश्चयनय के विषयरूप क्षायिक पर्याय में अहं स्थापित करना चाहिये; क्योंकि वह तो पूर्ण है, पवित्र है और पूर्ण पवित्र है?

उत्तर :- ध्यातापुरुष उसमें भी एकत्व स्थापित नहीं करता, क्योंकि वह भी पर्याय है। यद्यपि वह पूर्ण पवित्र है, तथापि परम पवित्र नहीं है। वह पूर्ण पावन है, पर पतित-पावन नहीं है। वह स्वयं तो पूर्ण पवित्र है, पर उसके आश्रय से पवित्रता उत्पन्न नहीं होती। वह पूर्ण पवित्र हुई है, 'है' नहीं। स्वभाव पवित्र है 'हुआ' नहीं है। जो पवित्र होता है, उसके आश्रय से पवित्रता प्रगट नहीं होती। जो स्वयं स्वभाव से पवित्र है, जिसे पवित्र होने की आवश्यकता नहीं, जो सदा से ही पवित्र है; उसके आश्रय से ही

पवित्रता प्रगट होती है। वही परम पवित्र होता है, वही पतित-पावन होता है; जिसके आश्रय से पवित्रता प्रगट होती है, पतितपना नष्ट होता है।

त्रिकाली ध्रुवतत्त्व पवित्र हुआ नहीं है, वह अनादि से पवित्र ही है; उसके आश्रय से ही पर्याय में पवित्रता, पूर्ण पवित्रता प्रगट होती है। वह परमपदार्थ ही परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है।

पवित्र पर्याय सोना है, पारस नहीं है। परमशुद्धनिश्चयनय का विषय त्रिकाली ध्रुव पारस है; जो सोना बनाता है, जिसके छूने मात्र से लोहा सोना बन जाता है। सोने को छूने से लोहा सोना नहीं बनता, पर पारस के छूने से वह सोना बन जाता है। पवित्र पर्याय के, पूर्ण पवित्र पर्याय के आश्रय से भी पर्याय में शुद्धता प्रगट नहीं होती। पर्याय में पवित्रता त्रिकाली शुद्धद्रव्य के आश्रय से प्रगट होती है। अतः ध्यातापुरुष भावना भाता है कि मैं तो वह परम पदार्थ हूँ, जिसके आश्रय से पर्याय में पवित्रता प्रगट होती है। मैं प्रगट होनेवाली पवित्रता नहीं; अपितु नित्य प्रगट, परम पवित्र पदार्थ हूँ। मैं सम्यग्दर्शन नहीं; मैं तो वह हूँ, जिसके दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है। मैं सम्यग्ज्ञान भी नहीं; मैं तो वह हूँ, जिसके ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है। मैं चारित्र भी नहीं; मैं तो वह हूँ, जिसमें रमने का नाम सम्यक्चारित्र है।

ध्यातापुरुष अपना अहं ध्येय में स्थापित करता है; साधन में नहीं, साध्य में भी नहीं।

(१८) **प्रश्न** :- साधन, साध्य और ध्येय में क्या अन्तर है ?

उत्तर :- परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत आत्मद्रव्य – त्रिकाली-ध्रुवतत्त्व ध्येय है, और उसके आश्रय से उत्पन्न होनेवाली सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप एकदेशनिर्मलपर्याय मोक्षमार्ग अर्थात् साधन है तथा उसी ध्रुव के परिपूर्ण आश्रय से पूर्णशुद्धपर्याय का उत्पन्न होना मोक्ष है; यह मोक्ष ही साध्य है।

त्रिकालीद्रव्य अर्थात् निजशुद्धात्मतत्त्व परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है। परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत निजशुद्धात्मद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप एकदेशनिर्मलपर्याय का उदय होना एकदेशशुद्धनिश्चयनय का उदय होना है अर्थात् एकदेशनिर्मल-पर्याय से युक्त द्रव्य एकदेशशुद्धनिश्चयनय का विषय है। तथा उसी निज शुद्धात्मद्रव्य के परिपूर्ण आश्रय से क्षायिकभावरूप मोक्षपर्याय का उत्पन्न

होना शुद्धनिश्चयनय या साक्षात् शुद्धनिश्चयनय का उदय है अर्थात् मोक्षरूप क्षायिकभाव से युक्त आत्मद्रव्य शुद्धनिश्चयनय का विषय है।

इसी बात को संक्षेप में इसप्रकार कहा जा सकता है कि एकदेश-शुद्धनिश्चयनय का विषय मोक्षमार्गरूप पर्याय से परिणत आत्मा है, शुद्धनिश्चयनय का विषय मोक्षरूप से परिणत आत्मा है तथा परमशुद्ध-निश्चयनय का विषय बंध-मोक्ष से रहित शुद्धात्मा है। एकदेशशुद्धनिश्चयनय का विषय मोक्षमार्गस्वरूप होने से साधन, शुद्धनिश्चयनय का विषय मोक्षरूप होने से साध्य और परमशुद्धनिश्चयनय का विषय बंध और मोक्ष पर्याय से भी रहित होने से ध्येय है।

ध्यातापुरुष का अहं इसी ध्येय मे होता है, मोक्षमार्गरूप साधन या मोक्षरूप साध्य में नही।

(१६) **प्रश्न :**– जब ध्यातापुरुष परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत ध्येय में ही अहं स्थापित करता है तो क्या एकमात्र वही उपादेय है?

उत्तर :– हाँ, आश्रय करने की अपेक्षा से तो एकमात्र परमशुद्ध-निश्चयनय का विषयभूत शुद्धात्मा ही उपादेय है, पर प्रगट करने की अपेक्षा शुद्धनिश्चयनय का विषय मोक्ष और एकदेशशुद्धनिश्चयनय का विषय मोक्षमार्ग भी उपादेय है। अशुद्धनिश्चयनय के विषय मोह-राग-द्वेषादि हेय हैं।

(२०) **प्रश्न :**– संक्षेप में उक्त ऊहापोह का सार क्या है?

उत्तर :– उक्त सम्पूर्ण ऊहापोह का सार मात्र इतना है कि यदि यह भव्यजीव परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत निजशुद्धात्मद्रव्य को जानकर, पहिचानकर उसी में जम जावे, रम जावे तो अशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत मोहादि विकारीभावों का अभाव होकर एकदेशशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत सम्यग्दर्शनादिरूप एकदेश पवित्रता प्रगट हो; तथा उसीमें जमा रहे, रमा रहे तो कालान्तर में शुद्धनिश्चय की विषयभूत पूर्ण पवित्र मोक्ष पर्याय प्रगट हो जावे और स्वभाव से त्रिकालपरमात्मस्वरूप यह आत्मा प्रगट पर्याय में भी परमात्मा बन जावे तथा अनन्तकाल तक अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग करता रहे।

यह दिन हम सबको अतिशीघ्र प्राप्त हो – इस पवित्र भावना के साथ निश्चयनय के भेद-प्रभेदों के प्रपंच (विस्तार) से विराम लेता हूँ।

व्यवहारनय : भेद-प्रभेद

निश्चय-व्यवहार का स्वरूप स्पष्ट करते समय यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि व्यवहारनय का कार्य एक अखण्ड वस्तु में भेद करके तथा दो भिन्न वस्तुओं में अभेद करके वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करना है।

व्यवहारनय की इसी विशेषता को लक्ष्य में रखकर उसके दो भेद किये जाते हैं :–

१. सद्भूतव्यवहारनय २. असद्भूतव्यवहारनय

इस सन्दर्भ में आलापपद्धति का निम्नकथन दृष्टव्य है :–

"**व्यवहारो द्विविधः सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च। तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः, भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः।**[1]

व्यवहारनय के दो भेद हैं – सद्भूतव्यवहार और असद्भूतव्यवहार। उनमें से एक ही वस्तु में भेदव्यवहार करनेवाला सद्भूतव्यवहारनय है और भिन्न वस्तुओं में अभेदव्यवहार करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय है।"

सद्भूतव्यवहारनय अनन्तधर्मात्मक एक अखण्डवस्तु में गुणों, धर्मों, स्वभावों व पर्यायों के आधार पर भेद करता है अर्थात् भेद करके वस्तु-स्वरूप को स्पष्ट करता है। वे गुण, धर्म आदि सद्भूत हैं अर्थात् उस वस्तु में विद्यमान हैं; उस वस्तु के ही गुण-धर्म हैं, जिसके कि यह नय बता रहा है – इसकारण तो इसे सद्भूत कहा जाता है; अखण्डवस्तु में गुण, धर्मादि के आधार पर भेद उत्पन्न करता है – इसकारण व्यवहार कहा जाता है; और भेदाभेदरूप वस्तु के भेदांश को ग्रहण करनेवाला होने से नय कहा जाता है।

इसप्रकार इसकी 'सद्भूतव्यवहारनय' संज्ञा सार्थक है।

असद्भूतव्यवहारनय भिन्न द्रव्यों में संयोग-सम्बन्ध आदि के आधार पर अभेद बताकर वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करता है, जबकि वस्तुतः भिन्न द्रव्यों में अभेद वस्तुगत नहीं है – इसकारण इस नय को असद्भूतव्यवहार-नय कहते हैं।

---

[1] आलापपद्धति, पृष्ठ २२८

आलापपद्धति में कहा है :-

"अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः ।[1]

अन्यत्र (अन्य द्रव्य में) प्रसिद्ध धर्म का अन्यत्र (अन्य द्रव्य में) आरोप करने को असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं ।"

इसे असत्य आरोप करने के कारण असद्भूत; भिन्न द्रव्यों में सम्बन्ध जोड़ने के कारण व्यवहार; और संयोग का ज्ञान करानेवाले सम्यक्-श्रुतज्ञान का अंश होने से नय कहा जाता है ।

इसप्रकार इसका नाम 'असद्भूतव्यवहारनय' सार्थक है ।

इस सन्दर्भ में क्षुल्लक श्री जैनन्द्रवर्णी के विचार दृष्टव्य हैं :-

"व्यवहारनय के दो प्रमुख लक्षणों पर से यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि व्यवहारनय दो प्रकार का है – एक तो अखण्डवस्तु में भेद डालकर एक को अनेक भेदोंरूप देखनेवाला; और दूसरा अनेक वस्तुओं में परस्पर एकत्व देखनेवाला । पहले प्रकार का व्यवहार सद्भूत कहलाता है, क्योंकि वस्तु के गुण-पर्याय सचमुच ही उस वस्तु के अंग हैं । दूसरे प्रकार का व्यवहार असद्भूत कहलाता है, क्योंकि अनेक वस्तुओं की एकता सिद्धान्तविरुद्ध व असत्य है ।"[2]

सद्भूत और असद्भूतव्यवहारनय की विषयवस्तु स्पष्ट करते हुए आलापपद्धतिकार लिखते है :-

"गुणगुणिनोः पर्यायपर्यायिणोः स्वभावस्वभाविनोः कारककारकिणोर्भेदः सद्भूतव्यवहारस्यार्थः । द्रव्ये द्रव्योपचारः, पर्याये पर्यायोपचारः, गुणे गुणोपचारः, द्रव्ये गुणोपचारः, द्रव्ये पर्यायोपचारः, गुणे द्रव्योपचारः, गुणे पर्यायोपचारः, पर्याये द्रव्योपचारः, पर्याये गुणोपचारः इति नवविधोऽसद्भूतव्यवहारस्यार्थो द्रष्टव्यः ।[3]

गुण-गुणी में, पर्याय-पर्यायी में, स्वभाव-स्वभाववान में और कारक-कारकवान में भेद करना अर्थात् वस्तुतः जो अभिन्न हैं, उनमें भेदव्यवहार करना सद्भूतव्यवहारनय का अर्थ (विषय) है । एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का उपचार, एक पर्याय में दूसरी पर्याय का उपचार, एक गुण में दूसरे गुण का उपचार; द्रव्य में गुण का उपचार, द्रव्य में पर्याय का उपचार;

---

[1] आलापपद्धति, पृष्ठ २२७

[2] नयदर्पण, पृष्ठ ६६५

[3] आलापपद्धति, पृष्ठ २२७

गुण में द्रव्य का उपचार, गुण में पर्याय का उपचार; पर्याय में द्रव्य का उपचार और पर्याय में गुण का उपचार – इसप्रकार नौ प्रकार का असद्भूतव्यवहारनय का अर्थ जानना चाहिए।"

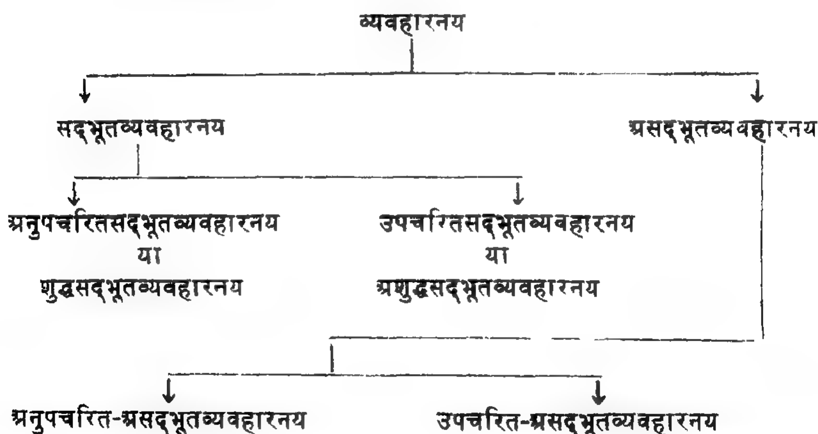
सद्भूत और असद्भूत – दोनों ही व्यवहारनय अनुपचरित और उपचरित के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। इसप्रकार व्यवहारनय चार प्रकार का माना गया है।

वे चार प्रकार निम्नानुसार हैं :–

१. अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय
२. उपचरितसद्भूतव्यवहारनय
३. अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय
४. उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय

अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय को शुद्धसद्भूतव्यवहारनय तथा उपचरितसद्भूतव्यवहारनय को अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय भी कहा जाता है।

उक्त सम्पूर्ण स्थिति को हम निम्नलिखित चार्ट द्वारा अच्छी तरह समझ सकते है :–



अब यहाँ व्यवहारनय के उक्त चारों भेदों के स्वरूप एवं उनकी विषय-वस्तु के सम्बन्ध में जिनागम के आलोक मे विस्तृत विचार अपेक्षित है।

(क) निरुपाधि गुण-गुणी में भेद को विषय करनेवाले अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय के स्वरूप व विषयवस्तु को स्पष्ट करनेवाले कतिपय शास्त्रीय उद्धरण इसप्रकार हैं :–

(१) "निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा – जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः ।[1]

निरुपाधि गुण-गुणी में भेद को विषय करनेवाला अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय है । जैसे – जीव के केवलज्ञानादिगुण हैं ।"

(२) "शुद्धसद्भूतव्यवहारो यथा – शुद्धगुण-शुद्धगुणिनोः शुद्धपर्याय-शुद्धपर्यायिणो भेदकथनम् ।[2]

शुद्धगुण व शुद्धगुणी में अथवा शुद्धपर्याय व शुद्धपर्यायी में भेद का कथन करना शुद्धसद्भूतव्यवहारनय है ।"

(३) "शुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वात् कार्यशुद्धजीवः ।[3]

शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से केवलज्ञानादि शुद्धगुणों का आधार होने के कारण कार्यशुद्धजीव है ।"

(४) "परमाणुपर्यायः पुद्गलस्य शुद्धपर्यायः परमपारिणामिकभावलक्षणः वस्तुगतषट्प्रकारहानिवृद्धिरूपः अतिसूक्ष्मः अर्थपर्यायात्मकः सादिसनिधनोऽपि परद्रव्यनिरपेक्षत्वाच्छुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मकः ।[4]

परमाणुपर्याय पुद्गल की शुद्धपर्याय है, जो कि परमपारिमाणिकभावस्वरूप है, वस्तु में होनेवाली षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप है, अतिसूक्ष्म है, अर्थपर्यायात्मक है, और सादिसान्त होने पर भी परद्रव्य से निरपेक्ष होने के कारण शुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मक है ।"

(५) "केवलज्ञानदर्शनं प्रति शुद्धसद्भूतशब्दवाच्योऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारः ।[5]

यहाँ जीव का लक्षण कहते समय केवलज्ञान व केवलदर्शन के प्रति शुद्धसद्भूत शब्द से वाच्य अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय है ।"

(६) "शुद्धसद्भूतव्यवहारनयेन शुद्धस्पर्शरसगंधवर्णानामाधारभूतपुद्गलपरमाणुवत् केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतम् ।[6]

---

[1] आलापपद्धति, पृष्ठ २२८
[2] वही, पृष्ठ २१७
[3] नियमसार, गाथा ६ की तात्पर्यवृत्ति टीका
[4] नियमसार, गाथा २८ की तात्पर्यवृत्ति टीका
[5] बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ६ की संस्कृत टीका
[6] प्रवचनसार की जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका का परिशिष्ट

शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से शुद्धस्पर्श-रस-गंध-वर्णों के आधारभूत पुद्गलपरमाणु के समान केवलज्ञानादि शुद्धगुणों का आधारभूत आत्मा है।"

(ख) सोपाधि गुण-गुणी में भेद को विषय करनेवाले उपचरितसद्भूत-व्यवहारनय के स्वरूप और विषयवस्तु को स्पष्ट करनेवाले कतिपय शास्त्रीय उद्धरण इसप्रकार हैं :–

(१) **"सोपाधिगुण-गुणिनोर्भेदविषय उपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा – जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः ।**[1]

उपाधिसहित गुण व गुणी में भेद को विषय करनेवाला उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय है। जैसे – जीव के मतिज्ञानादि गुण हैं।"

(२) **"अशुद्धसद्भूतव्यवहारो यथा – अशुद्धगुणाशुद्धगुणिनोरशुद्ध-पर्यायाशुद्धपर्यायिणोर्भेदकथनम् ।**[2]

अशुद्धगुण व अशुद्धगुणी में अथवा अशुद्धपर्याय व अशुद्धपर्यायी में भेद का कथन करना अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय है।"

(३) **"अशुद्धसद्भूतव्यवहारेण मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधार-भूतत्वादशुद्धजीवः ।**[3]

अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय से मतिज्ञानादिविभावगुणों का आधार होने के कारण अशुद्धजीव है।"

(४) **"छद्मस्थज्ञानदर्शनापरिपूर्णापेक्षया पुनरशुद्धसद्भूतशब्दवाच्य उपचरितसद्भूतव्यवहारः ।**[4]

छद्मस्थ जीव के अपरिपूर्ण ज्ञान दर्शन की अपेक्षा से 'अशुद्धसद्भूत' शब्द से वाच्य उपचरितसद्भूतव्यवहारनय है।"

(५) **"तथैवाशुद्धसद्भूतव्यवहारनयेनाशुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णाधार-भूतद्व्यणुकादि स्कन्धवन्मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधारभूतम् ।**[5]

अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय से अशुद्धस्पर्श-रस-गंध-वर्णों के आधार-भूत द्वि-अणुकादि स्कन्ध के समान मतिज्ञानादि विभावगुणों का आधार-भूत आत्मा है।"

---

[1] आलापपद्धति, पृष्ठ २२८

[2] वही, पृष्ठ २१७

[3] नियमसार, गाथा ६ की तात्पर्यवृत्ति टीका

[4] बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ६ की संस्कृत टीका

[5] प्रवचनसार की जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति टीका का परिशिष्ट

(ग) भिन्नवस्तुओं के संश्लेषसहित सम्बन्ध को विषय करनेवाले अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के स्वरूप व विषयवस्तु को स्पष्ट करने-वाले कतिपय शास्त्रीय उद्धरण इसप्रकार हैं :-

(१) **"संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा – जीवस्य शरीरमिति ।**[1]

संश्लेषसहित वस्तुओं के सम्बन्ध को विषय करनेवाला अनुचरित-असद्भूतव्यवहारनय है। जैसे – जीव का शरीर है।"

(२) **"आसन्नगतानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयाद् द्रव्यकर्मणां कर्त्ता तत्फलरूपाणां सुखदुःखानां भोक्ता च**.......... ....।

.................**अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण नोकर्मणां कर्त्ता ।**[2]

आत्मा निकटवर्ती अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्त्ता और उसके फलस्वरूप सुख-दुःख का भोक्ता है.......।

....अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से नोकर्म अर्थात् शरीर का भी कर्त्ता है।"

(३) **"अनुपचरितासद्भूतव्यवहारान्मूर्तो ।**[3]

अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से यह जीव मूर्त्त है।"

(४) **"अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन देहादभिन्नम् ।**[4]

अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से यह आत्मा देह से अभिन्न है।"

(५) **"अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यप्राणैश्च यथासंभवं जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वश्चेति जीवो ।**[5]

अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से जीव यथासंभव द्रव्यप्राणों के द्वारा जीता है, जीवेगा और पहले जीता था।"

(६) **"जीवस्यौदयिकादिभावचतुष्टयमनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यकर्मकृतमिति ।**[6]

---

[1] आलापपद्धति, पृष्ठ २२८

[2] नियमसार, गाथा १८ की तात्पर्यवृत्ति टीका

[3] बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ७ की संस्कृत टीका

[4] परमात्मप्रकाश, अ० १, गाथा १४ की संस्कृत टीका

[5] पंचास्तिकाय, गाथा २७ की तात्पर्यवृत्ति टीका

[6] पंचास्तिकाय, गाथा ५८ की तात्पर्यवृत्ति टीका

जीव के औदयिक आदि चार भाव अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से द्रव्यकर्मों द्वारा किए गए हैं।"

(७) **"अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्वयणुकादिस्कन्धेषु संश्लेषबन्धस्थितपुद्गलपरमाणुवत्परमौदारिकशरीरे वीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकदेहस्थितम्।**[1]

अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से यह आत्मा द्वि-अणुक आदि स्कन्धों में संश्लेषबन्ध से स्थित पुद्गलपरमाणुओं की भाँति अथवा औदारिक आदि शरीरों में से विवक्षित किसी एक देह में स्थित वीतराग-सर्वज्ञ के समान है।"

(घ) भिन्नवस्तुओं के संश्लेषरहित सम्बन्ध को विषय करनेवाले उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के स्वरूप व विषयवस्तु को स्पष्ट करनेवाले कतिपय शास्त्रीय उद्धरण इसप्रकार हैं :-

(१) **"संश्लेषरहितवस्तुसंबंधविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारो, यथा - देवदत्तस्य धनमिति।**[2]

संश्लेषरहित वस्तुओं के सम्बन्ध को विषय करनेवाला उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है। जैसे - देवदत्त का धन है।"

(२) **"असद्भूतव्यवहारः एवोपचारः, उपचारादप्युपचारं यः करोति स उपचारितासद्भूतव्यवहारः।**[3]

असद्भूतव्यवहार ही उपचार है और उपचार में भी जो उपचार करता है, वह उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है।"

(३) **"उपचारितासद्भूतव्यवहारेण घटपटशकटादीनां कर्त्ता।**[4]

उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से आत्मा घट, पट और रथ आदि का कर्त्ता है।"

(४) **"उपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन काष्ठासनाद्युपविष्टदेवदत्तवत् समवशरणस्थितवीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकग्रामगृहादिस्थितम्।**[5]

---

[1] प्रवचनसार, जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका के परिशिष्ट

[2] आलापपद्धति, पृष्ठ २२८

[3] वही, पृष्ठ २२७

[4] नियमसार, गाथा १८ की तात्पर्यवृत्ति टीका

[5] प्रवचनसार की जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका का परिशिष्ट

उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से यह आत्मा, काष्ठासन आदि पर बैठे हुए देवदत्त की भाँति, अथवा समवशरण में स्थित वीतराग-सर्वज्ञ की भाँति विवक्षित किसी एक ग्राम या घर में स्थित है।"

(५) **"उपचरितासद्भूतव्यवहारेणेष्टानिष्टपंचेन्द्रियविषयजनित-सुख-दुःखं भुङ्क्ते।**[1]

उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से यह जीव इष्टानिष्ट पंचेन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न सुख-दुःख को भोगता है।"

(६) **"योऽसौ बहिर्विषये पंचेन्द्रियविषयादिपरित्यागः स उपरितासद्भूतव्यवहारेण।**[2]

बाह्यविषयों में पंचेन्द्रिय के विषयों का परित्याग भी उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से है।"

व्यवहारनय के उक्त भेद-प्रभेदों के स्वरूप और विषयवस्तु के विशेष स्पष्टीकरण के लिए, विशेष विस्तार और गहराई में जाने के पूर्व, नयप्रयोगों में प्रवीणता प्राप्त करने एवं उनके मर्म को समझने के इच्छुक आत्मार्थीजनों से अनुरोध है कि उक्त नयों के स्वरूप व विषयवस्तु को स्पष्ट करनेवाले उल्लिखित शास्त्रीय उद्धरणों का गहराई से अध्ययन कर लें।

उक्त उद्धरणों में प्रतिपादित विषयवस्तु के हृदयङ्गम कर लेने के बाद तत्संबंधी गंभीर और विस्तृत चर्चा सहज बोधगम्य होगी।

यह दावा करना तो संभव नहीं है कि उक्त उद्धरणों के रूप में जिनवाणी में समागत सभी प्रयोगों को प्रस्तुत कर दिया गया है, पर यह बात अवश्य है कि यहाँ पंचाध्यायी के वर्णित व्यवहारनयों के स्वरूप और विषयवस्तु को छोड़कर अधिकांश प्रयोगों को समेटने का प्रयास अवश्य किया गया है।

पंचाध्यायी में समागत प्रयोग उक्त धारा से कुछ हटकर हैं। अतः उन पर यथास्थान अलग से विचार किया जायगा। प्रश्नोत्तरों के माध्यम से तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया जायगा।

व्यवहारनय के पूर्वोक्त भेद-प्रभेदों के स्वरूप और विषयवस्तु को हम निम्नलिखित उदाहरण से अच्छी तरह समझ सकते हैं।

---

[1] बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ९ की संस्कृत टीका

[2] बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५ की संस्कृत टीका

जिसप्रकार सर्वप्रभुता-सम्पन्न अनेक देशों के समुदायरूप यह लौकिक विश्व है। पूर्ण स्वतन्त्रता को प्राप्त अनेक देश इसकी इकाइयाँ हैं। प्रत्येक इकाई अपने में परिपूर्ण है, अखण्ड है, पूर्ण स्वतन्त्र है।

उसीप्रकार सर्वप्रभुता-सम्पन्न, अखण्ड, अनन्तानन्त द्रव्यों के समुदाय-रूप यह अलौकिक विश्व है। अनन्तानन्त द्रव्य इसकी इकाइयाँ हैं। प्रत्येक इकाई अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने में परिपूर्ण है, अखण्ड है, पूर्ण स्वतन्त्र है।

जिसप्रकार देश के भीतर अनेक प्रदेश होने पर भी वह खण्डित नहीं होता; उसीप्रकार द्रव्यरूपी देश के भीतर भी अनेक प्रदेश हो सकते हैं, होते हैं, पर उनसे वह खण्डित नहीं होता।

जिसप्रकार प्रत्येक देश की अपनी शक्तियाँ और अपनी व्यवस्थायें होती हैं, पर उन शक्तियों और व्यवस्थाओं के कारण देश की अखण्डता खण्डित नहीं होती, प्रभुसम्पन्नता प्रभावित नहीं होती। उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य में अनन्त शक्तियाँ होती हैं और उनकी अनन्तानन्त अवस्थायें भी होती हैं, पर उन शक्तियों और अवस्थाओं के कारण द्रव्य की अखण्डता खण्डित नहीं होती, प्रभुसम्पन्नता प्रभावित नहीं होती।

किसी देश की अखण्डता या प्रभुसम्पन्नता तब प्रभावित होती है, जब कोई दूसरा देश उसकी सीमा का उल्लंघन करता है, उसकी निजी व्यवस्थाओं में हस्तक्षेप करता है। उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य की अखण्डता और प्रभुसम्पन्नता तभी प्रभावित होती है कि जब कोई अन्य द्रव्य उसकी सीमा में प्रवेश करे या उसकी अवस्थाओं में हस्तक्षेप करे।

जिसप्रकार देश अपनी अखण्डता और एकता कायम रखकर शासन, प्रशासन और व्यवस्थाओं की दृष्टि से अनेक प्रदेशों, जिलों, नगरों, ग्रामों आदि में तथा भागों-विभागों में भेदा जाता है; उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य भी अपनी अखण्डता और एकता कायम रखकर समझने-समझाने आदि की दृष्टि से गुण-गुणी, प्रदेश-प्रदेशवान, पर्याय-पर्यायवान आदि से भेदा जाता है।

यद्यपि एक देश की मर्यादा में किए जानेवाले ये प्रदेशों के भेद वैसे नहीं होते, जैसे कि दो देशों के बीच होते हैं; तथापि ये भेद सर्वथा काल्पनिक भी नहीं होते। उसीप्रकार एक द्रव्य की मर्यादा के भीतर किये गये गुणभेदादि भेद दो द्रव्यों के बीच होनेवाले भेद के समान अभावरूप न होकर अतद्भावरूप होते हैं।

दो देशों के बीच जो विभाजन रेखा होती है, वह अत्यन्ताभावस्वरूप होती है। उन दोनों के सुख-दुःख, लाभ-हानि सम्मिलित नहीं होते। प्रत्येक के अपने सुख-दुःख, लाभ-हानि, अपनी समृद्धि, अपनी सुरक्षा-व्यवस्था, अपने हिताहित पृथक्-पृथक् होते हैं। किन्तु एक देश के विभिन्न प्रदेशों, जिलों, नगरों, ग्रामों, विभागों के सुख-दुःख, समृद्धि, सुरक्षा, हिताहित, लाभ-हानि सम्मिलित होते हैं – यही कारण है कि ये भेद वास्तविक नहीं, व्यवस्था के लिए किए गये काल्पनिक भेद हैं; पर हैं अवश्य, इनसे सर्वथा इन्कार करना भी वास्तविक नहीं है।

उसीप्रकार दो द्रव्यों के बीच जो विभाजन रेखा होती है, वह अत्यन्ताभावस्वरूप होती है; क्योंकि उन दोनों के सुख-दुःख, लाभ-हानि सम्मिलित नहीं होते। प्रत्येक के अपने सुख-दुःख, लाभ-हानि, अपनी समृद्धि, अपनी सुरक्षा-व्यवस्था, अपने हिताहित पृथक्-पृथक् होते हैं। किन्तु एक द्रव्य के प्रदेशों, गुणों और पर्यायों के सुख-दुःख, समृद्धि, सुरक्षा और हिताहित सम्मिलित होते हैं – यही कारण है कि द्रव्य की मर्यादा के भीतर समझने-समझाने की दृष्टि से किये गये भेद वास्तविक नहीं हैं; पर हैं अवश्य, इनसे सर्वथा इन्कार करना भी वास्तविक न होगा।

इसप्रकार के भेद को शास्त्रीय भाषा में अतद्भावरूप भेद कहते हैं।

यद्यपि प्रत्येक देश अपनी स्वतन्त्र प्रभुसम्पन्न सत्ता का स्वामी है, किसी देश का हस्तक्षेप उसे स्वीकार नहीं है; तथापि विश्व के अनेक देशों के बीच किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध सर्वथा न हो – ऐसी बात भी नहीं है। एक दूसरे के बीच कुछ व्यवहारिक सम्बन्ध पाये ही जाते हैं। उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य अपनी स्वतन्त्र प्रभुसम्पन्न सत्ता का स्वामी है, किसी अन्य द्रव्य का हस्तक्षेप उसे स्वीकार नहीं है; तथापि अनेक द्रव्यों के बीच किसीप्रकार का कोई सम्बन्ध सर्वथा ही न हो – ऐसी बात भी नहीं है। एक दूसरे के बीच कुछ व्यवहारिक सम्बन्ध पाये ही जाते हैं।

देश की आन्तरिक व्यवस्था में जितना बल राष्ट्रीयता पर दिया जाता है, उतना प्रान्तीयता पर नहीं। राष्ट्रीय भावना उदात्त मानी जाती है और प्रान्तीय भावना या प्रान्तीयता को हेयदृष्टि से देखा जाता है, क्योंकि राष्ट्रीयता देश की एकता को मजबूत करती है और अखण्डता की पोषक होती है, जबकि प्रान्तीयता अखण्डता की विरोधी होने से देश की एकता को कमजोर करती है।

उसीप्रकार द्रव्य की आन्तरिक व्यवस्था में जितना बल अभेद पर दिया जाता है, उतना बल भेद पर नहीं। अभेदग्राही निश्चयनय को भूतार्थ

और सत्यार्थ कहकर उपादेय बताया जाता है और भेदग्राही व्यवहारनय को अभूतार्थ और असत्यार्थ कहकर हेय कहा जाता है। क्योंकि अभेदग्राही निश्चयनय द्रव्य की अखण्डता का पोषक होने से एकता को मजबूत करता है, अनेकता के विकल्पों का शमन करता है और आत्मानुभूति की प्राप्ति का साक्षात् हेतु बनता है। जबकि भेदग्राही व्यवहारनय विकल्पों में ही उलझाये रखता है।

प्रत्येक देश की सर्वोच्चसत्ता का मूल कार्य देश की आन्तरिक अखण्डता कायम रखकर, अन्य देशों से अपने देश की सीमा को सुरक्षित रखना होता है। देश की सुरक्षा का अर्थ ही यह होता है कि अन्य देशों का हस्तक्षेप अपने देश में नहीं होने देना तथा अपने देश की अखण्डता कायम रखना। सर्वोच्चसत्ताधारी, चाहे वह प्रधानमंत्री हो या राष्ट्रपति; उनका यह कर्त्तव्य है कि वे इस मर्यादा की सुरक्षा करें।

प्रत्येक द्रव्य की सर्वोच्चसत्ता वही है, जो द्रव्य की आन्तरिक अखण्डता कायम रखकर अन्य द्रव्यों से उसकी पृथक्ता स्थापित रखे। निज-द्रव्य में अन्य द्रव्यों के हस्तक्षेप का निषेध एवं अपनी आन्तरिक अखण्डता अर्थात् गुणभेदादि का निषेध ही जिसका कार्य है, वह निश्चय-नय ही वस्तुतः नयाधिराज है। यह नयाधिराज ही द्रव्य को सच्ची सुरक्षा और स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

प्रत्येक देश की पर-देश से भिन्नता और अपने से अभिन्नता, अभेदता, अखण्डता ही सच्ची सुरक्षा है। उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य की पर से भिन्नता और अपने से अभिन्नता, अखण्डता, अभेदता ही सच्ची सुरक्षा है, शुद्धता है।

जिसप्रकार किसी देश की उक्त सुरक्षा को कायम रखते हुए भी अभेद, अखण्ड देश को सुव्यवस्थित-व्यवस्था बनाये रखने की दृष्टि से अनेक खण्डों में विभाजित करना पड़ता है, तथा अन्य देशों से भी आवश्यक सम्बन्ध बनाने पड़ते हैं। तदर्थ सर्वोच्चसत्ता प्रशासन चलाने के लिए प्रशासनिक विभाग बनाती है। जैसे – गृहविभाग और विदेशविभाग आदि। गृहविभाग आन्तरिक अभेद में भेद डालकर अपनी व्यवस्था बनाता है और विदेशविभाग जिनसे देश का कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं, उन देशों से भी व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित करता है।

उसीप्रकार द्रव्य के मूलस्वरूप अर्थात् पर से भिन्नता और अपने से अभिन्नता – अखण्डता को कायम रखकर विश्वव्यवस्था को समझने-

समझाने के लिए अभेद एकद्रव्य की आन्तरिक संरचना के स्पष्टीकरण के लिए अभेद में भेद किये जाते हैं; और विभिन्न द्रव्यों के बीच पारमार्थिक सम्बन्ध न होने पर भी वे सब इस विश्व में एक साथ किसप्रकार रहते हैं; उनमें मात्र एकक्षेत्र में रहने मात्र का ही सम्बन्ध है या अन्यप्रकार से भी वे किसीप्रकार सम्बन्धित हैं; मात्र संयोग है या संश्लेष भी है। – आदि प्रश्नों का समाधान करता है व्यवहारनय।

जिसप्रकार एक अखण्डदेश की आन्तरिक व्यवस्था को स्वराष्ट्र-मंत्री – गृहमंत्री संभालता है और दूसरे देशों के सम्बन्ध से सम्बन्धित कार्य को परराष्ट्रमंत्री – विदेशमंत्री देखता है; उसीप्रकार अखण्ड एकद्रव्य में भेद डालकर समझने-समझाने का कार्य करता है सद्भूतव्यवहारनय और दो भिन्नद्रव्यों के बीच के सम्बन्ध बताने का कार्य असद्भूतव्यवहारनय का है।

अखण्डद्रव्य में गुण-गुणी आदि के आधार पर जो भेद बताया जाता है, उसमें भी इसप्रकार का भेद किया जाता है कि यह भेद शुद्धगुण-गुणी आदि में है या अशुद्धगुण-गुणी आदि में। यदि शुद्धगुण-गुणी आदि में हुआ तो उसे विषय बनानेवाला नय शुद्धसद्भूतव्यवहारनय कहा जाएगा और यदि अशुद्ध गुण-गुणी आदि हुआ तो उसे अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय कहा जाएगा।

इसप्रकार सद्भूतव्यवहारनय भी शुद्धसद्भूतव्यवहारनय और अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय के भेद से दो प्रकार का हो जाता है, जिन्हें अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय और उपचरितसद्भूतव्यवहारनय के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

इसीप्रकार दो द्रव्यों के बीच जो सम्बन्ध बताया जा रहा है, वह संश्लेषसहित है या संश्लेषरहित है? यदि वह संश्लेषसहित हुआ तो अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय होगा और यदि संश्लेषरहित हुआ तो उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय की विषय-सीमा में आयेगा।

इसप्रकार अनुपचरित और उपचरित के भेद से असद्भूतव्यवहार-नय भी दो प्रकार का हो जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अलौकिक विश्व की संरचना एवं स्वचालित पूर्णव्यवस्थित-व्यवस्था समझाने के लिये व्यवहारनय और उसके उक्त भेद-प्रभेद सार्थक ही नहीं, आवश्यक भी हैं।

इन नयों की सत्यता-असत्यता वस्तुस्वरूप में विद्यमान व्यवस्था के अनुपात में है और उपयोगिता उक्त वस्तुस्वरूप को समझने-समझाने में है।

जितना भेदाभेद वस्तुस्वरूप में है अर्थात् जिस भेदाभेद का वस्तुस्वरूप में जितना वजन है, उतनी ही सत्यता उसे विषय बनानेवाले नय में है। प्रत्येक नयकथन के वजन का अनुपात अर्थात् उसकी विवक्षा जबतक हमारी समझ में स्पष्ट नहीं होगी, तबतक वस्तुस्वरूप भी हमारी समझ से परे ही रहेगा।

उक्त सम्पूर्ण कथन भेद-अभेद की दृष्टि से किया गया है। इसीप्रकार कर्त्ता-कर्म आदि की दृष्टि से भी घटित कर लेना चाहिए।

वजन या बल की बात को हम इसप्रकार समझ सकते हैं।

जैसे – किसी भी संस्थान में कार्यरत सभी कर्मचारी यद्यपि कर्मचारी ही हैं, तथापि उनमें चार श्रेणियाँ पायी जाती हैं। उनमें उच्च-अधिकारी प्रथम श्रेणी में, सामान्य अधिकारी द्वितीय श्रेणी में, लिपिकवर्ग तृतीय श्रेणी में तथा भृत्यवर्ग चतुर्थ श्रेणी में आते हैं।

यद्यपि वे सभी कर्मचारी एक ही कार्यालय में काम करते हैं, तथापि वे अपनी-अपनी अधिकार सीमा में ही अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। अपने-अपने अधिकार की सीमा में सभी की बात में वजन होता है, तो भी सभी की बात एक-सी वजनदार नहीं होती। प्रत्येक की बात का वजन उसके अधिकार के वजन के अनुपात में होता है।

भृत्य की बात में भी वजन होता है, पर लिपिक की बात के बराबर नहीं। भृत्य की बात का निषेध लिपिक कर सकता है, पर लिपिक की बात का निषेध भृत्य नहीं कर सकता है। इसीप्रकार लिपिक की बात को सामान्य-अधिकारी काट सकता है, पर अधिकारी की बात को लिपिक नहीं काट सकता। सामान्य-अधिकारी के आदेश को भी उच्च-अधिकारी निरस्त कर सकता है, पर उच्चाधिकारी के आदेश को निरस्त करने का अधिकार उसके अन्तर्गत कार्य करनेवाले किसी भी कर्मचारी को नहीं है, पर मालिक या सर्वोच्च अधिकारी उसकी भी बात को निरस्त कर सकता है। वह सभी की बात को निरस्त कर सकता है; किन्तु उसकी बात को कोई भी व्यक्ति निरस्त नहीं कर सकता। 'उसकी बात को कोई निरस्त नहीं कर सकता है' – इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए, उसकी बात निरस्त नहीं हो सकती। उसकी बात भी निरस्त हो सकती है, पर अपने आप, किसी अन्य के द्वारा नहीं।

यही स्थिति उक्त चार व्यवहारनयों व उनका निषेध करनेवाले निश्चयनय के बारे में भी है। व्यवहारनयों के संदर्भ में उक्त उदाहरण

को वजन की विभिन्नता तक ही सीमित रखना चाहिए, निषेध की सीमा तक नहीं ले आना चाहिए। निषेध की बात निश्चयनय की सीमा में आती है। यहाँ तो निषेध की बात मात्र वजन का अनुपात समझाने के लिए दी है।

चारों ही व्यवहारनय अपनी-अपनी सीमा में अभेद – अखण्ड वस्तु में भेद करते हैं या भिन्न वस्तुओं में अभेद का उपचार करते हैं। प्रत्येक की बात में वजन भी है, पर सभी की बात एक-सी वजनदार नहीं होती। आशय यह है कि प्रत्येक का कथन अपने-अपने प्रयोजनों की सिद्धि की अपेक्षा सत्यार्थ होता है, तो भी सभी का कथन एक-सा सत्यार्थ नहीं होता। प्रत्येक नयकथन की सत्यार्थता उसके द्वारा प्रतिपादित विषय की सत्यार्थता के अनुपात में ही होती है।

उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय की बात में भी सत्यार्थता है, वजन है। असत्यार्थ मानकर उसे ऐसे ही नहीं उड़ाया जा सकता है।

"यह मकान देवदत्त का है, कुम्हार ने घड़ा बनाया है, तीर्थंकर भगवान समवशरण में विराजमान हैं, अज्ञानी पंचेन्द्रियों के विषयों को भोगता है और ज्ञानी मुनिराज उनका त्याग करते हैं।"

उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के उक्त कथनों का भी आधार है। ये सभी कथन सर्वथा असत्य नहीं है। लौकिकदृष्टि से देवदत्त मकान का मालिक है ही और कुम्हार का योग और उपयोग घड़ा बनने में निमित्त हुआ ही है। भगवान के समवशरण में विराजमान होने की बात को तो धार्मिक जगत में भी असत्य नहीं माना जाता, क्योंकि उनकी वहाँ उपस्थिति होती ही है। इसीप्रकार पंचेन्द्रिय के विषयों के ग्रहण-त्याग की चर्चा आध्यात्मिक गोष्ठियों में ही हल्के-फुल्के रूप में नहीं, बल्कि बड़ी गम्भीरता से होती है।

ये बातें भी वजनदार हैं, पर उतनी वजनदार नहीं, जितनी अनुपचरित-असद्भूतव्यवारनय की बात होती है। देवदत्त का मकान और देवदत्त का शरीर – इन दो कथनों में वजन का अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। मकान और शरीर – दोनों को ही देवदत्त का बताया जा रहा है; पर देवदत्त कहीं जाता है तो मकान साथ नहीं जावेगा, किन्तु शरीर जावेगा। मकान के गिर जाने पर देवदत्त का गिरना अनिवार्य नहीं है, पर शरीर गिरा तो देवदत्त भी गिरा ही समझिये। इस जगत को भी देवदत्त और मकान की भिन्नता जैसी स्पष्ट प्रतिभासित होती है, वैसी देह और देवदत्त में नहीं दीखती। देवदत्त देहमय और देह देवदत्तमय दीखती है।

यद्यपि देवदत्त से देह और मकान दोनों ही भिन्न हैं, पर देवदत्त की जैसी भिन्नता मकान से है, वैसी देह से नहीं। देह संश्लेषसहित संयोग है और मकान संश्लेषरहित संयोग।

इसी अन्तर के आधार पर ही जगत कहता है – 'मकान गया तो जाने दो, देह है तो मकान तो अनेक हो जायेंगे। जान बची तो लाखों पाये' – वाली कहावत में 'जान' माने 'देह' ही होता है। जान बची माने देह का संयोग बना रहा तो सब-कुछ हो जावेगा।

इसीलिये – 'देहवाला जीव, दश प्राणों से जीवे सो जीव, मूर्तिक जीव, द्रव्यकर्मों व शरीरादि नोकर्मों का कर्त्ता जीव' ये सभी कथन अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के हैं।

इन दोनों असद्भूतनयों से भी वजनदार बात होती है – उपचरित-सद्भूतव्यहारनय की, क्योंकि उसमें एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में सम्बन्धादि व एक द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता दूसरे द्रव्यों को न बताकर एक द्रव्य में ही भेद किया जाता है। जैसे – मतिज्ञानादि व रागादि को आत्मा का कहना।

मतिज्ञान और रागादि आत्मा की ही अल्पविकसित और विकारी पर्यायें हैं। ये आत्मा में हैं अर्थात् सद्भूत है। सद्भूत होने पर भी अविकसित हैं, विकारी हैं, अशुद्ध हैं – इसकारण उपचरित कही गई हैं।

इनकी सत्ता स्वद्रव्य की मर्यादा के भीतर ही है। अतः इनका वजन असद्भूत के दोनों भेदों से अधिक है, पर ये अनुपचरितसद्भूत से कम वजनदार हैं, क्योंकि अनुपचरितसद्भूत में पूर्ण निर्विकारी पर्याय या गुण लिये जाते हैं। जैसे – केवलज्ञान आत्मा की शुद्ध पर्याय है या ज्ञान आत्मा का गुण है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि व्यवहार की बात में भी वजन है और नयकथनों के उक्त क्रम में उत्तरोतर अधिक वजन है। इसी का उल्टा प्रयोग करें तो यह भी कहा जा सकता है कि उत्तरोतर वजन कम है।

उक्त चारों व्यवहारों से भी अधिक वजन निश्चयनय में होता है। यही कारण है कि उसके सामने इनका वजन काम नहीं करता है और वह इनका निषेध कर देता है।

जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है कि एक देश में प्रदेश और विभागों में भेद तो व्यवस्था के लिए किये गये हैं तथा दो देशों के बीच सम्बन्ध भी प्रयोजनवश स्थापित किये गये हैं। उनकी मर्यादा इतनी ही है। यदि

उनपर अधिक बल दे दिया गया तो देश की एकता व स्वतन्त्रता खतरे में पड़ सकती है।

उसीप्रकार एक द्रव्य में गुणभेदादि-भेद जिस प्रयोजन से किये गये हैं, उसी मर्यादा में उनकी सार्थकता है, वजन है। यदि उनपर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया तो द्रव्य की एकता व स्वतंत्रता खतरे में पड़ सकती है।

अतः यह सावधानी अपेक्षित है कि उनपर आवश्यकता से अधिक बल न पड़े।

इस बात को अधिक स्पष्टता से इसप्रकार समझ सकते हैं :—

भारत एक सर्वप्रभुता-सम्पन्न स्वतन्त्र देश है। प्रशासनिक दृष्टि से अथवा क्षेत्र की दृष्टि से उसका विभाजन उत्तरप्रदेश, गुजरात आदि प्रदेशों में किया गया है। तथा कार्यों की दृष्टि से उसे गृहविभाग, सुरक्षाविभाग, खाद्यविभाग, यातायातविभाग आदि विभागों में भी बाँटा गया है। इसीप्रकार हमारा आत्मा सर्वप्रभुतासम्पन्न स्वतन्त्र द्रव्य है। क्षेत्र की दृष्टि से वह असंख्यातप्रदेशी है तथा गुणधर्मों या शक्तियों की दृष्टि से वह ज्ञानादि अनन्त गुणोंवाला अर्थात् अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है।

उक्त विभाजनों से न तो देश विभक्त होता है और न द्रव्य, क्योंकि विशेष दृष्टिकोण से किया गया उक्त विभाजन एकत्व का विरोधी नहीं होता।

यद्यपि यह बात सत्य है कि राजस्थान गुजरात नहीं है और गुजरात राजस्थान नहीं है, तथापि दोनों भारत अवश्य हैं। भारत सरकार के गृह-विभाग, यातायातविभाग, खाद्यविभाग आदि विभागों का कार्यक्षेत्र राजस्थान, गुजरात आदि प्रदेशों सहित सम्पूर्ण भारत है। वे भारत के सभी प्रदेशों में निर्बाधरूप से कार्य कर सकते हैं। इसीप्रकार यद्यपि सभी विभाग स्वतन्त्ररूप से अपना कार्य करते हैं, पर वह स्वतन्त्रता विभाजक नहीं बनती। यह नहीं हो सकता है कि रेलवेविभाग अनाज न ढोवे और कोई प्रदेश भारतीय रेलों को अपने में प्रवेश ही न करने दे, क्योंकि स्वतन्त्र होते हुए भी वे एक-दूसरे से संयुक्त रहते हैं। इसीप्रकार आत्मद्रव्य के ज्ञानादि अनन्तगुण असंख्यप्रदेशों में सदा सर्वत्र विद्यमान रहते हैं तथा एक गुण का रूप दूसरे गुण में पाया जाता है।

यद्यपि देश का उक्त विभाजन देश के कर्णधारों के द्वारा ही किया जाता है, तथापि जब प्रान्तीयता सिर उठाने लगती है या कोई विभाग

निरंकुश होने लगता है, तो वे ही कर्णधार निर्दयता से उसका निषेध करने लगते हैं। वे पुकार-पुकार कर कहते हैं कि भाई ! आप गुजराती या महाराष्ट्री नहीं; आप तो भारतीय हैं भारतीय। यह प्रान्त का भेद व्यवस्था के लिए है; अव्यवस्था के लिए नहीं, लड़ने के लिए नहीं। इस भेद की अपेक्षा तो तबतक ही है, जबतक यह व्यवस्था में सहयोगी हो तथा सीमा के बाहर होने से पूर्व ही इसका निषेध भी आवश्यक है।

इसीप्रकार द्रव्य में प्रदेशभेद या गुणभेद, मुक्तिपथ के कर्णधार तीर्थंकरों, आचार्यों के द्वारा ही द्रव्य की आन्तरिक संरचना समझाने के लिए किए जाते हैं। और जब वह भेद-विवरण अपना काम कर चुकता है, तब वे ही तीर्थंकर या आचार्य उसका निर्दयता से निषेध करने लगते हैं। उनके इन निषेध वचनों या विकल्पों का नाम ही निश्चयनय है। सब विकल्पों का निषेध करनेवाला सर्वाधिक वजनदार यह नयाधिराज निश्चयनय ही है, जो समस्त भेद-विकल्पों का निषेध कर, स्वयं निषिद्ध हो जाता है, निरस्त हो जाता है।

निश्चयनय के भेद-प्रभेदों और उनके निषेध की प्रक्रिया तथा नयाधिराज की चर्चा निश्चयनय के प्रकरण में पहले की ही जा चुकी है, अतः वहाँ से जानना चाहिए।

उक्त सम्पूर्ण प्रक्रिया में प्रत्येक नयवचन का वजन जानना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इसे जाने बिना नयकथनों का मर्म समझ पाना संभव नहीं है।



व्यवहारनय : कुछ प्रश्नोत्तर

व्यवहारनय और उसके भेद-प्रभेदों की विस्तृत चर्चा के उपरान्त भी कुछ सहज जिज्ञासाएँ शेष रह जाती हैं, उन्हें यहाँ प्रश्नोत्तरों के माध्यम से स्पष्ट कर देना समीचीन होगा।

(१) **प्रश्न :–** "एक द्रव्य की मर्यादा के भीतर किये गये गुण-भेदादि-भेद दो द्रव्यों के बीच होने वाले भेद के समान अभावरूप न होकर अतद्भावरूप होते हैं।"

– उक्त कथन में समागत अतद्भावरूप अभाव की चर्चा कहीं आगम में भी आती है क्या ?

उत्तर :– हाँ, हाँ, आती है। प्रवचनसार में इस विषय को विस्तार से स्पष्ट किया गया है। वहाँ अभाव को स्पष्टरूप से दो प्रकार का बताया गया है :–

१. पृथक्त्वलक्षण २. अन्यत्वलक्षण

उक्त दोनों के स्वरूप को स्पष्ट करनेवाली गाथा इसप्रकार है :–

"पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं॥[1]

विभक्त प्रदेशत्व पृथक्त्व है और अतद्भाव अन्यत्व है, क्योंकि जो उस रूप न हो, वह एक कैसे हो सकता है ? – ऐसा भगवान महावीर का उपदेश है।"

इस गाथा की संस्कृत टीका में इस बात को बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है। तथा आगे-पीछे की गाथाओं में भी इससे सम्बन्धित चर्चाएँ हैं, जो मूलतः पठनीय हैं। सबको यहाँ देना सम्भव नहीं है। जिज्ञासु पाठकों से अनुरोध है कि वे उक्त विषय का अध्ययन मूल ग्रंथों में से अवश्य करें।

विषय की स्पष्टता की दृष्टि से सामान्य पाठकों की जानकारी के लिए उक्त गाथा का भावार्थ यहाँ दे देना उचित प्रतीत होता है।

---

[1] प्रवचनसार, गाथा १०६

"भिन्नप्रदेशत्व वह पृथक्त्व का लक्षण है और अतद्भाव वह अन्यत्व का लक्षण है। द्रव्य में और गुण में पृथक्त्व नहीं है, फिर भी अन्यत्व है।

प्रश्न :– जो अपृथक् होते हैं, उनमें अन्यत्व कैसे हो सकता है ?

उत्तर :– उनमें वस्त्र और शुभ्रता (सफेदी) की भाँति अन्यत्व हो सकता है। वस्त्र के और उसकी शुभ्रता के प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं हैं, इसलिए उनमें पृथक्त्व नहीं है। ऐसा होने पर भी शुभ्रता तो मात्र आँखों से ही दिखाई देती है; जीभ, नाक आदि शेष चार इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होती और वस्त्र पाँचों इन्द्रियों से ज्ञात होता है। इसलिए (कथंचित्) वस्त्र वह शुभ्रता नहीं है और शुभ्रता वह वस्त्र नहीं है। यदि ऐसा नहीं हो तो वस्त्र की भाँति शुभ्रता भी जीभ, नाक इत्यादि सर्व इन्द्रियों से ज्ञात होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए वस्त्र और शुभ्रता में अपृथक्त्व होने पर भी अन्यत्व है।

इसीप्रकार द्रव्य में और सत्ता आदि गुणों में अपृथक्त्व होने पर भी अन्यत्व है, क्योंकि द्रव्य के और गुण के प्रदेश अभिन्न होने पर भी द्रव्य में और गुण में संज्ञा-संख्या-लक्षणादि भेद होने से (कथंचित्) द्रव्य गुणरूप नहीं है और गुण द्रव्यरूप नहीं है।"[1]

'अतद्भाव सर्वथा अभावरूप नहीं होता' – इस बात को प्रवचनसार, गाथा १०८ में स्पष्ट किया गया है। जो इसप्रकार है :–

"जं दव्वं तं ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो।।

स्वरूप अपेक्षा से जो द्रव्य है वह गुण नहीं है और जो गुण है वह द्रव्य नहीं है; यह अतद्भाव है। सर्वथा अभाव वह अतद्भाव नहीं है – ऐसा वीर भगवान द्वारा कहा गया है।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि एक द्रव्य के भीतर किये गये गुण-गुणी आदि भेद दो द्रव्यों के बीच होनेवाले भेद के समान अभावरूप न होकर अतद्भावरूप होते हैं – यह कथन आगमानुसार ही है।

दो द्रव्यों के बीच जो अभाव है, उसे भिन्नत्व या पृथक्त्व कहते हैं तथा एक द्रव्य की मर्यादा के भीतर गुण का गुणी में अभाव या गुणी का गुण में अभाव अथवा एक गुण का दूसरे गुण में अभाव – इत्यादिरूप जो अभाव होता है, उसे अन्यत्व कहते हैं।

---

[1] प्रवचनसार, गाथा ९ का भावार्थ

अन्य-अन्य होना अन्यत्व है और पृथक्-पृथक् होना पृथक्त्व है। अन्यत्व का विलोम अनन्यत्व है और पृथक्त्व का विलोम अपृथक्त्व है।

दो द्रव्य परस्पर पृथक्-पृथक् होते हैं, पर एक द्रव्य के दो गुण या गुण-गुणी आदि अन्य-अन्य होते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं; क्योंकि एकद्रव्यरूप होने से वे हैं तो अपृथक् ही।

दो द्रव्य कभी भी अपृथक् नहीं हो सकते। संयोगादि देखकर उनके बीच जो अपृथक्ता (एकता) बताई जाती है, वह आरोपित होती है। अतः उसे विषय बनानेवाले नय भी असद्भूत कहलाते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक द्रव्य की पर से पृथक्ता (भिन्नता) और अपने से अपृथक्ता (अभिन्नता, एकता) ही वास्तविक है, वस्तुस्वरूप के अधिक निकट है।

यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द समयसार के आरम्भ में ही एकत्व-विभक्त आत्मा की दुर्लभता बताते हुए अपने सम्पूर्ण वैभव से उसे ही दिखाने की प्रतिज्ञा करते हैं।

"तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।[1]

मैं उस एकत्व-विभक्त आत्मा को अपने निजवैभव से दिखाता हूँ।"

पर से विभक्त और निज में एकत्व को प्राप्त आत्मा ही परमपदार्थ है, परमार्थ है। आत्मा का पर से एकत्व असद्भूतव्यवहारनय का विषय है, अपने में ही अन्यत्व सद्भूतव्यवहारनय की सीमा में आता है। अतः निज से एकत्व और पर से विभक्त आत्मा निश्चयनय का विषय है।

सद्भूत और असद्भूत दोनों ही व्यवहार हेय हैं, क्योंकि सद्भूत-व्यवहारनय अतद्भाव के आधार पर द्रव्य की एकता को खण्डित करता प्रतीत होता है और असद्भूतव्यवहारनय उपचार के सहारे विभक्तता को भंजित करता दिखाई देता है।

यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द समयसार की पाँचवीं गाथा में एकत्व-विभक्त आत्मा का स्वरूप बताने की प्रतिज्ञा करने के तत्काल बाद ही छठवीं और सातवीं गाथा में चारों ही प्रकार के व्यवहार का निषेध करते दिखाई देते हैं।

(२) **प्रश्न :–** "पर से विभक्त और निज में एकत्व को प्राप्त आत्मा ही परमपदार्थ है, परमार्थ है। वही निश्चयनय का विषय भी है।

---

[1] समयसार, गाथा ५

उसे ही बताने की प्रतिज्ञा सर्वश्रेष्ठ दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द समयसार के आरंभ में करते हैं। वह ही एक सार है और सब संसार है।

इस एक आत्मा के ही अवलोकन का नाम सम्यग्दर्शन है; इसे ही जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और इसी में जम जाने, रम जाने का नाम सम्यग्चारित्र है।"

एक ओर तो आप ऐसा कहते हैं और दूसरी ओर यह बावदूक व्यवहारनय आत्मा के इसी एकत्व-विभक्त स्वरूप के विरुद्ध बात करता है; फिर भी उसे इतना विस्तार क्यों दिया जा रहा है ? उसे बताया ही क्यों जा रहा है ? जिस रास्ते जाना नहीं, उसे जानने से भी क्या लाभ है ?

उत्तर :– भाई ! जिस रास्ते जाना नहीं है, उस रास्ते को भी जानना आवश्यक है; क्योंकि उस रास्ते पर जाने से आनेवाली विपत्तियों के सम्यग्ज्ञान बिना उधर को भटक जाने की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। उस खतरनाक रास्ते पर कहीं हम चले न जावें – इसके लिए उसके सम्यक् स्वरूप को जानना अति आवश्यक है।

सम्यक्-स्थिति जान लेने के बाद एक तो हम उधर जावेंगे ही नहीं; कदाचित् प्रयोजनवशात् जाना भी पड़ा, तो भटकेंगे नहीं। यह दुनियाँ व्यवहार में कहीं भटक न जाय, व्यवहार में ही उलझकर न रह जाय; इसके लिए व्यवहारनय का वास्तविक स्वरूप जान लेना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

दूसरे व्यवहारनय का विषय भी सर्वथा अभावरूप नहीं है। वह है तो अवश्य, पर बात मात्र इतनी ही है कि वह जमने लायक नहीं, रमने लायक नहीं।

व्यवहार का विषय श्रद्धेय नहीं है, ध्येय नहीं है, पर ज्ञेय तो है ही। तुम उसे जानने से ही क्यों इन्कार करना चाहते हो ? जाना तो गुणों और दोषों – दोनों को ही जाता है।

क्योंकि –

"बिन जानें तें दोष-गुणनि को कैसे तजिए गहिये।"

यद्यपि व्यवहारनय की स्थिति पर अबतक युक्ति, आगम और उदाहरणों के माध्यम से पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है, तथापि उक्त प्रश्न के सन्दर्भ में व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों के कथन की उपयोगिता पर कुछ भी न कहना ठीक न होगा।

निश्चयनय के विषयभूत जिस अभेद अखण्ड आत्मा में आप रमना चाहते हैं; जबतक उसका आन्तरिक वैभव आपकी समझ में नहीं आएगा, तबतक आप उसके प्रति महिमावंत भी कैसे होंगे, उसके प्रति सर्वस्व समर्पण के लिए कमर कस के तैयार भी कैसे होंगे ?

एक आत्मा····आत्मा····कहते रहने से तो किसी की समझ में कुछ आ नहीं पाता। अतः उसकी प्रभुता का परिचय विस्तार से दिया जाना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

"आत्मा अनन्त-अनन्त सामर्थ्य का धनी है, अनन्तानन्त गुणों का गोदाम है, अनन्तसामर्थ्यवाली अनन्त-अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है, शान्ति का सागर है, आनन्द का कन्द है, ज्ञान का घनपिण्ड है, प्रभु है, परमात्मा है, एकसमय में लोकालोक को देखे-जाने – ऐसी सामर्थ्य का धनी है अर्थात् सर्वदर्शी और सर्वज्ञस्वभावी है।"

इसप्रकार शुद्धसद्भूतव्यवहारनय आत्मा में अनुपचरितरूप से विद्यमान शक्तियों और पूर्णपावन व्यक्तियों का ही तो परिचय कराता है। आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि गुण और केवलज्ञानादि पर्यायें कोई उपचरित नहीं है; वास्तविक हैं, शुद्ध है। बस बात इतनी सी ही तो है कि कथन में जिसप्रकार का भेद प्रदर्शित होता है, वे उसप्रकार भिन्न-भिन्न नहीं हैं, अपितु अभेद-अखण्डरूप से विद्यमान हैं। उनमें परस्पर भेद का सर्वथा अभाव हो – ऐसी भी बात नहीं है। अतद्भावरूप भेद तो उनमें भी है ही; परन्तु उनमें वैसा भेद नहीं है, जैसा कि दो द्रव्यों के बीच पाया जाता है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि इन भेदों में ही उलझे रहने से अभेद अखण्ड आत्मा का अनुभव नहीं होता, अतः इसका निषेध भी आवश्यक है। इसलिए प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर उसका निषेध भी निर्दयता से कर दिया जाता है।

लोक में भी तो हम जबतक किसी वस्तु की वास्तविक विशेषताओं को नहीं जान लेते, तबतक उसके प्रति आकर्षित नहीं होते हैं। हमारी रुचि का ढलान आत्मा की ओर हो – इसके लिए आवश्यक है कि हम उसकी वास्तविक विशेषताओं से गहराई से परिचित हों। परिचय की प्राप्ति के लिए प्रतिपादन आवश्यक है और प्रतिपादन करना व्यवहारनय का कार्य है।

इसीप्रकार अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय आत्मा की अपूर्ण और विकृत पर्यायों का ज्ञान कराता है। आत्मा की वर्त्तमान अवस्था में रागादि

विकार और मतिज्ञानादिरूप ज्ञान की अपूर्ण – अल्पविकसितदशा भी है ही, उसे जानना भी आवश्यक है। यदि उसे जानेंगे नहीं तो उसका अभाव करने का यत्न ही क्यों करेंगे ?

इसप्रकार शुद्धसद्भूत और अशुद्धसद्भूत – इन दोनों ही व्यवहारनयों का प्रयोजन स्वभाव की सामर्थ्य और वर्त्तमान पर्याय की पामरता का ज्ञान कराकर, दृष्टि को पर और पर्याय से हटाकर स्वभाव की ओर ले जाना है।

(३) **प्रश्न** :– शुद्धसद्भूत और अशुद्धसद्भूत व्यवहारनय की बात तो ठीक है, क्योंकि वे तो आत्मा के अंतरंग वैभव का ही परिचय कराते हैं, आत्मा के ही गीत गा-गाकर आत्मा की ओर आकर्षित करते हैं, आत्मा की रुचि उत्पन्न कराते हैं। स्वभाव एवं स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली स्वभावपर्यायों की सामर्थ्य से परिचित कराकर, जहाँ एक ओर शुद्धसद्भूतव्यवहारनय हीन-भावना से मुक्ति दिलाकर आत्मगौरव उत्पन्न कराता है, वहीं दूसरी ओर अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय अपनी वर्त्तमानपर्यायगत कमजोरी का ज्ञान कराके उससे मुक्त होने की प्रेरणा देता है।

अतः उनकी चर्चा तो ठीक है; परन्तु शरीर, मकानादि जैसे परपदार्थों से भी आत्मा को अभेद बताने वाले असद्भूतव्यवहारनय व उसके भेद-प्रभेदों में उलझने से क्या लाभ है ?

उत्तर :– उलझना तो किसी भी व्यवहार में नहीं है। बात उलझने की नहीं, समझने की है। उलझने के नाम पर समझने से भी इन्कार करना तो उचित प्रतीत नहीं होता।

विश्व में जो अनन्तानन्त पदार्थ हैं, उनमें से एकमात्र निज को छोड़कर सभी जड़ और चेतन पदार्थ पर ही हैं। उन सभी परपदार्थों में ज्ञानी आत्मा का व्यवहार और अज्ञानी आत्मा का अहं और ममत्व एक-सा देखने में नहीं आता। विभिन्न परपदार्थों के साथ यह आत्मा विभिन्न प्रकार के संबंध स्थापित करता दिखाई देता है।

उक्त संबंधों की निकटता और दूरी के आधार पर अनुपचरित और उपचरित के रूप में असद्भूतव्यवहारनय का वर्गीकरण किया जाता है।

संयोगी परपदार्थों में जो अत्यन्त समीप हैं अर्थात् जिनका आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाहसंबंध है, ऐसे शरीरादि का संयोग अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय बनता है; तथा शरीरादि की अपेक्षा जो

दूरवर्ती हैं, ऐसे मकानादि के संयोगों को विषय बनाना उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का काम है।

यदि ज्ञेय-ज्ञायकसंबंध को भी लें तो लोकालोक को जानना भी अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय बन जायगा।

इसप्रकार ये नय भी सर्वथा अनपयोगी नहीं है, इनसे भी कुछ न कुछ वस्तुस्थिति स्पष्ट होती ही है। ये नय आत्मा का परपदार्थों के साथ किसप्रकार का संबंध है; इस सत्य का उद्घाटन करते हैं।

इन नयों से सर्वथा इन्कार करने पर भी अनेक आपत्तियाँ खड़ी हो जावेंगी। जैसे –

१. अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के विषयभूत देही (शरीरस्थ आत्मा) को जीव नहीं मानने से त्रस-स्थावर जीवों को भी भस्म के समान मसल देने पर भी हिंसा नहीं होगी। ऐसा होने पर त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा के त्यागरूप अहिंसाणुव्रत और अहिंसामहाव्रत भी काल्पनिक ठहरेंगे।

इसीप्रकार तीर्थंकर भगवान की सर्वज्ञता भी संकट में पड़ जावेगी, क्योंकि केवलीभगवान पर को अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से ही जानते हैं।

२. उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से इन्कार करने पर जिन-मन्दिर और शिव-मन्दिर का भेद संभव नहीं हो सकेगा तथा माँ-बाप, स्त्री-पुत्रादि, मकानादि एवं नगर व देशादि को अपना कहने का व्यवहार भी संभव न होगा। ऐसी स्थिति में स्वस्त्री-परस्त्री, स्वगृह-परगृह एवं स्वदेश-परदेश के विभाग के बिना लौकिक मर्यादायें कैसे निभेंगी ?

३. उपचरित और अनुपचिरत – दोनों ही प्रकार के असद्भूत-व्यवहारनयों से इन्कार करने पर समस्त जिनवाणी के व्याघात का प्रसंग उपस्थित होगा, क्योंकि जिनवाणी में तो उनका कथन सम्यक्श्रुतज्ञान के अंश के रूप में आया है।

अतः उनकी सत्ता और सम्यक्पने से इन्कार किया जाना संभव नहीं है।

(४) **प्रश्न :–** यदि ये नय भी सम्यक् हैं तो फिर इनमें उलझना भी क्यों नहीं ?

उत्तर :– उलझना तो कहीं भी अच्छा नहीं होता, न मिथ्या में न सम्यक् में। जिसप्रकार लोक में यह कहावत है कि 'सुनना सबकी, करना

मन की', उसीप्रकार अध्यात्म का मार्ग है – 'समझना सब, जमना स्वभाव में'। अतः व्यवहारनय और उसका विषय जानने के लिए प्रयोजनवान है; जमने के लिए नहीं, रमने के लिए भी नहीं।

सम्यक् तो निज और पर सभी हो सकते हैं; पर सभी ध्येय तो नहीं हो सकते, श्रद्धेय तो नहीं हो सकते। श्रद्धेय और ध्येय तो निजस्वभाव ही होगा। उसे छोड़कर सम्पूर्ण जगत ज्ञेय है, मात्र ज्ञेय; ध्येय नहीं, श्रद्धेय नहीं। आत्मा ज्ञेय भी है, ध्येय भी है, श्रद्धेय भी है। अतः मात्र वही निश्चय है, निश्चयनय का विषय है, उपादेय है। शेष सब व्यवहार हैं, व्यवहारनय के विषय है; अतः ज्ञेय हैं, पर उपादेय नहीं।

उक्त सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष मात्र इतना ही है कि व्यवहारनय और उसका विषय जैसा है, वैसा मात्र जान लेना चाहिए; क्योंकि उसकी भी जगत में सत्ता है, उससे इन्कार करना उचित नहीं है, सत्य भी नहीं है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि व्यवहारनयों ने भी आत्मा का ही विशेष विस्तार से कथन किया है, आत्मा के ही विशेषों का कथन किया है, किसी अन्य का नहीं।

यद्यपि रत्नत्रयरूप धर्म की प्राप्ति सामान्य के आश्रय से ही होती है, विशेष के आश्रय से नहीं; तथापि –

"सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्।

सामान्य प्रतिपादन से विशेष प्रतिपादन बलवान होता है।"

पर यह सब जानने के लिए ही है। व्यवहार द्वारा प्रतिपादित विशेषों को जानकर, पश्चात् उन्हें गौणकर निश्चयनय के विषयभूत सामान्य में अहं स्थापित करना, स्थिर होना इष्ट है, परम इष्ट है। यही मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं।

(५) **प्रश्न** :– शुद्धसद्भूत और अशुद्धसद्भूत व्यवहारनय के प्रयोग भी विभिन्नता लिए होते हैं क्या ?

उत्तर :– हाँ, हाँ, क्यों नहीं ? कभी गुण-गुणी के भेद को लेकर, कभी पर्याय-पर्यायी के भेद को लेकर आदि अनेक प्रकार के प्रयोग आगम में पाये जाते हैं, इन सबका बारीकी से अध्ययन किया जाना आवश्यक है, अन्यथा कुछ समझ में नहीं आवेगा।

अधिक स्पष्टता के लिए नयदर्पण का निम्नलिखित अंश दृष्टव्य है:–

"सामान्यद्रव्य में अथवा शुद्धद्रव्य में गुण-गुणी व पर्याय-पर्यायी का भेदकथन करनेवाला शुद्धसद्भूतव्यवहारनय है। वहाँ गुण तो

त्रिकालीसामान्यभाव होने के कारण शुद्धता व अशुद्धता से निरपेक्ष शुद्ध ही होता है, जैसे ज्ञानगुणसामान्य। परन्तु पर्याय शुद्ध व अशुद्ध – दोनों प्रकार की होती है। इन दोनों में से यहाँ शुद्धसद्भूतव्यवहार के द्वारा केवल शुद्धपर्याय का ही ग्रहण किया जाता है। अशुद्धपर्याय का ग्रहण करना अशुद्धसद्भूतव्यवहार का काम है।

शुद्धपर्याय भी दो प्रकार की है – सामान्य व विशेष। प्रतिक्षणवर्ती षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप सूक्ष्मअर्थपर्याय तो सामान्यशुद्धपर्याय है और क्षायिकभाव विशेषशुद्धपर्याय है, जैसे केवलज्ञान।

सामान्यद्रव्य में तो सामान्यगुण व गुणी का अथवा सामान्य-शुद्धपर्याय व पर्यायी का अथवा विशेषशुद्धपर्याय व पर्यायी का – ये तीनों ही भेद देखे जाने संभव हैं। परन्तु शुद्धद्रव्य में अर्थात् शुद्धद्रव्यपर्याय में केवल विशेषशुद्धपर्याय व पर्यायी का ही भेद देखा जा सकता है, क्योंकि शुद्धद्रव्यपर्याय में त्रिकालीसामान्यद्रव्य के अथवा सामान्यपर्याय के दर्शन असंभव है।

'जीव ज्ञानवान है या षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप स्वाभाविक सामान्य-पर्यायवाला है' – ऐसा कहना द्रव्यसामान्य में गुण-गुणी व पर्याय-पर्यायी का भेदकथन है।

'जीव केवलज्ञानदर्शनवाला है या वीतरागतावाला है?' यह द्रव्यसामान्य में शुद्धगुण-शुद्धगुणी व शुद्धपर्याय-शुद्धपर्यायी का भेदकथन है।

'सिद्धभगवान केवलज्ञान व केवलदर्शनवाले है या वीतरागतावाले हैं।' यह शुद्धद्रव्य या शुद्धद्रव्यपर्यायी में शुद्धगुण-शुद्धगुणी व शुद्धपर्याय-शुद्धपर्यायी का भेदकथन है।

ये सभी शुद्धसद्भूतव्यवहारनय के उदाहरण हैं। इसे अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय भी कहते हैं, क्योंकि गुणसामान्य तो परसंयोग से रहित होने के कारण तथा क्षायिकभाव संयोग के अभावपूर्वक होने के कारण अथवा स्वभाव के अनुरूप होने के कारण अनुपचरित कहे जाने युक्त हैं।[1]

शुद्धसद्भूतव्यवहारनयवत् ही अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय भी समझना। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ सामान्य गुण व पर्यायरूप स्वभावभावों की अपेक्षा भेद डाला जाना संभव नहीं है, क्योंकि वे अशुद्ध नहीं होते।

---

[1] नयदर्पण, पृष्ठ ६६८–६६९

द्रव्यसामान्य में अथवा अशुद्धद्रव्यपर्यायरूप अशुद्धद्रव्य में अशुद्धगुणों व अशुद्धपर्यायों के आधार पर भेदोपचार द्वारा गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी, लक्षण-लक्ष्य आदिरूप द्वैत उत्पन्न करना अशुद्धसद्‌भूतव्यवहारनय है ।

अशुद्धगुण व पर्यायें औदयिकभावरूप होते हैं। जैसे – ज्ञानगुण की मतिज्ञानादि पर्यायें, चारित्रगुण की राग-द्वेषादि पर्यायें तथा वेदनगुण की विषयजनित सुख-दुख आदि पर्यायें ।

'जीवसामान्य मतिज्ञानवाला है या राग-द्वेषादिवाला है।' – ये द्रव्यसामान्य की अपेक्षा अशुद्धसद्‌भूतव्यवहार के उदाहरण हैं ।

'संसारी जीव मतिज्ञानवाला है या राग-द्वेषादिवाला है।' – ये द्रव्यपर्याय की अपेक्षा अशुद्धसद्‌भूतव्यवहार के उदाहरण हैं ।

इसे उपचरितसद्‌भूत भी कहते हैं, क्योंकि परसंयोगी वैभाविक औदयिक अशुद्धभावों का द्रव्य के साथ स्थायी संबंध नहीं है, न उसके स्वभाव से उनका मेल खाता है। अतः वे उपचरितभाव कहे जाने योग्य हैं।"[1]

इसप्रकार हम देखते हैं कि शुद्धसद्‌भूत और अशुद्धसद्‌भूतव्यवहारनयों के विविध प्रयोग जिनवाणी में मिलते हैं। पंचाध्यायी में समागत प्रयोगों की तो अभी चर्चा ही नहीं की गई है ।

(६) **प्रश्न :–** सद्‌भूतव्यवहारनय के समान असद्‌भूतव्यवहारनय के प्रयोगों में भी विभिन्नता पाई जाती होगी ?

उत्तर :– असद्‌भूतव्यवहारनय के प्रयोगों में तो और भी अधिक विविधता और विचित्रता पायी जाती है। इस विषय को दृष्टि में रखकर जिनागम का जितनी गहराई से अध्ययन करो, नयचक्र की गंभीरता उतनी ही अधिक भासित होती है। जितना ज्ञान में आता है, उतना कहने में नहीं आता और जितना कहने में आ जाता है, लिखने में उतना भी नहीं आता। कहीं विषय की जटिलता और कहीं विस्तार का भय लेखनी को अवरुद्ध करता है ।

नय प्रयोगों की विविधता और विचित्रता की सर्वाङ्गीण जानकारी के लिए तो आपको परमागमरूपी सागर का ही मंथन करना होगा, तथापि यहाँ असद्‌भूतव्यवहारनय के सन्दर्भ में कुछ भी न कहना संगत न होगा ।

---

[1] नयदर्पण, पृष्ठ ६७२–६७३

असद्भूतव्यवहारनय का क्षेत्र बहुत बड़ा है, क्योंकि उसका विषय विभिन्न द्रव्यों के बीच विभिन्न सम्बन्धों के आधार पर एकत्व का उपचार करना है। एक तो द्रव्य ही अनन्तानन्त हैं, और उनमें जिन सम्बन्धों के आधार पर एकत्व या कर्त्तृत्वादि का उपचार किया जाता है, वे सम्बन्ध भी अनेक प्रकार के होते हैं। यही कारण है कि इसका विषय असीमित है।

जब विश्व के अनन्तानन्त द्रव्यों में से किन्हीं दो या दो से भी अधिक द्रव्यों के बीच होनेवाले सम्बन्धों के बारे में विचार करते हैं, तो अनेक प्रश्न खड़े हो जाते हैं। जैसे कि वे द्रव्य एक ही जाति के हैं या भिन्न-भिन्न जाति के? तथा जो सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, वह निकटवर्ती (संश्लेषसहित) है या दूरवर्ती (संश्लेषरहित)? ज्ञाता-ज्ञेय है या स्व-स्वामी? आदि अनेक विकल्प खड़े हो जाते हैं।

इन सभी बातों को ध्यान में रखकर इन उपचारों को पहले तो नौ भागों में विभाजित किया गया है, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। वे नौ विभाग द्रव्य, गुण और पर्याय के आधार पर किये गये हैं।

सजाति, विजाति और उभय के भेद से द्रव्यों का वर्गीकरण भी तीनप्रकार से किया जाता है। इन सजाति, विजाति और उभय द्रव्यों में विभिन्न सम्बन्धों के आधार पर उक्त नौ प्रकार का उपचार करना ही असद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

यद्यपि उपचार शब्द का प्रयोग सद्भूतव्यवहारनय के साथ भी है। जैसे – एक द्रव्य में भेदोपचार करना सद्भूतव्यवहारनय का कार्य है और भिन्न-भिन्न द्रव्यों में अभेदोपचार करना असद्भूतव्यवहारनय का कार्य है। इसी के आधार पर सद्भूतव्यवहारनय के उपचरितसद्भूतव्यवहारनय और अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय – ऐसे भेद भी किये जाते हैं, तथापि वास्तविक उपचार तो असद्भूतव्यवहारनय में ही होता है, क्योंकि द्रव्य में गुणभेदादि-भेद उपचरित नहीं, वास्तविक हैं।

सद्भूतव्यवहारनय के अनुपचरित और उपचरित भेदों के स्थान पर जो शुद्ध और अशुद्ध नाम प्राप्त होते हैं, उनसे सद्भूतव्यवहारनय को उपचरित कहने में संभावित संकोच स्पष्ट हो जाता है।

अतः मुख्यरूप से भेदव्यवहार को सद्भूतव्यवहार और उपचरित-व्यवहार को असद्भूतव्यवहार कहना ही श्रेयस्कर है। जैसा कि कहा भी गया है :–

"असद्भूतव्यवहार: एवोपचार:, उपचारादप्युपचारं य: करोति स उपचरितासद्भूतव्यवहार: ।[1]

असद्भूतव्यवहार ही उपचार है, और उपचार का भी जो उपचार करता है, वह उपचरित-असद्भूतव्यवहार है ।"

इसका वास्तविक अर्थ यह हुआ कि अनुपचरित-असद्भूतव्यवहार-नय भी वस्तुत: उपचरित ही है । उसके नाम के साथ जो अनुपचरित शब्द का प्रयोग है, वह तो उपचार में भी उपचार के निषेध के लिए है, उपचार के निषेध के लिए नहीं ।

इसप्रकार यह निश्चित हुआ कि जिसमें मात्र उपचार हो, वह अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है और जिसमें उपचार में भी उपचार हो, वह उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है ।

"उपनयोपजनितो व्यवहार: । प्रमाणनयनिक्षेपात्मक: भेदोपचाराभ्यां वस्तु व्यवहरतीति व्यवहार: ।

कथमुपनयस्तस्य जनक इति चेत् ।

सद्भूतो भेदोत्पादकत्वात् असद्भूतस्तूपचारोत्पादकत्वात् उपचरितासद्भूतस्तूपचारादप्युपचारोत्पादकत्वात् ।[2]

व्यवहार उपनय से उपजनित होता है । प्रमाणनयनिक्षेपात्मक भेद और उपचार के द्वारा जो वस्तु का प्रतिपादन करता है, वह व्यवहारनय है ।

प्रश्न :– व्यवहार का जनक उपनय कैसे है ?

उत्तर :– सद्भूतव्यवहारनय भेद का उत्पादक होने से, असद्भूत-व्यवहारनय उपचार का उत्पादक होने से और उपचरित-असद्भूतव्यवहार-नय उपचार में भी उपचार का उत्पादक होने से उपनयजनित है ।"

नयचक्र के इस कथन से यह बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि सद्भूतव्यवहारनय भेद का उत्पादक है और असद्भूतव्यवहारनय उपचार का उत्पादक है ।

उपचार में भी उपचार का उत्पादक होने से उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय असद्भूतव्यवहारनय का ही एक भेद है । जिस असद्भूतव्यवहार-

---

[1] आलापपद्धति, पृष्ठ २२७

[2] श्रुतभवनदीपकनयचक्रम् पृष्ठ २९

नय में मात्र उपचार ही प्रवर्तित होता है, उपचार में भी उपचार नहीं; उस असद्भूतव्यवहारनय को उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से पृथक बताने के लिए अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

(७) **प्रश्न** :– नयचक्र के उक्त कथन में व्यवहारनय को उपनय से उपजनित कहा गया है ? अभी तक तो उपनय की बात आई ही नहीं।

उत्तर :– एकप्रकार से व्यवहारनय ही उपनय है, क्योंकि उपनयों के जो भेद गिनाए गये हैं, वे सब एकप्रकार से व्यवहारनय के ही भेद-प्रभेद हैं।

नयों के भेद-प्रभेदों की चर्चा करते समय नयचक्र[1] में पहले तो नयों के नय और उपनय ऐसे दो भेद किए हैं। फिर नय के नौ प्रकार एवं उपनय के तीन प्रकार बताये गये हैं।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक – ये दो तो मूलनय एवं नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत – ये सात उत्तरनय; इसप्रकार कुल मिलाकर ये नौ नय बताये गये है, जिनकी चर्चा आगे विस्तार से की जावेगी।

सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार तथा उपचरित-असद्भूत-व्यवहार – ये तीन भेद उपनय के बताये गये हैं।

तथा सद्भूतव्यवहारनय के शुद्ध और अशुद्ध – ऐसे दो भेद किये गये हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि व्यवहारनय के जो चार भेद बताये गये थे, उनमें और इनमें (उपनयों द्वारा किए गये भेदों में) कोई अन्तर नहीं रह जाता है।

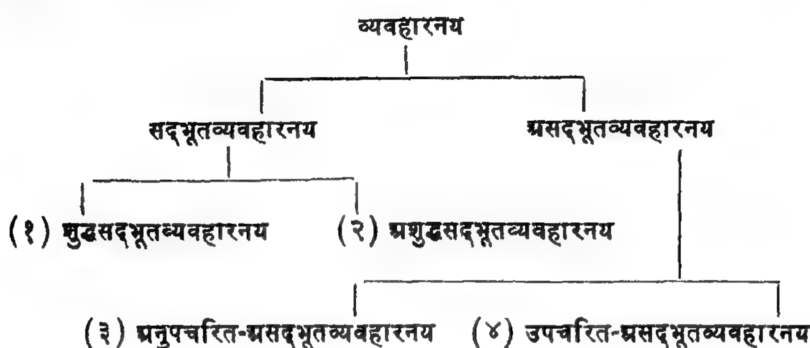
सद्भूतव्यवहारनय के तो जिसप्रकार दो भेद वहाँ बताये गये थे, वैसे ही यहाँ भी बताये गये हैं। असद्भूतव्यवहारनय के वहाँ अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय एवं उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय – इसप्रकार दो भेद किये गये थे और यहाँ उन दोनों को स्वतंत्ररूप से स्वीकार कर लिया गया है। बस, मात्र इतना ही अन्तर है।

---

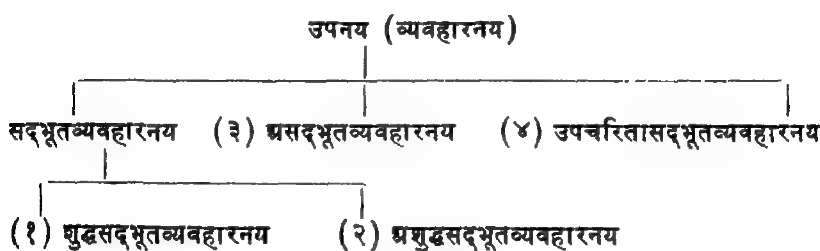
[1] देवसेनाचार्यकृत श्रुतभवनदीपकनयचक्र एवं माइल्लधवलकृत द्रव्यस्वभावप्रकाशक-नयचक्र – इन दोनों में ही उक्त कथन पाये जाते हैं।

इसे निम्नलिखित चार्टों द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है :-

चार्ट १



चार्ट २



उक्त चार्टों में व्यवहारनयों के प्रभेदों में जो क्रमांक दिये गये हैं, वे परस्पर एक-दूसरे के स्थानापन्न हैं। अतः दोनों प्रकार के वर्गीकरणों में कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनों प्रकार के वर्गीकरणों को देखकर भ्रमित होने की आवश्यकता भी नहीं है, किन्तु उन्हें जान लेने की आवश्यकता भी अवश्य है।

असद्भूतव्यवहारनय (अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय) और उपचरित-असद्भूतव्यवहारनयों के स्वजातीय, विजातीय और मिश्र (स्वजातिविजातीय) के भेद से तीन-तीन भेद किए गये हैं।

यहाँ असद्भूतव्यवहारनय (जिसे अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय भी कहा जाता है) द्रव्य में द्रव्य का उपचार आदि नौ प्रकार के उपचारों में प्रवृत्ति करता है।

तथा यही असद्भूतव्यवहारनय भिन्न द्रव्यों, उनके गुणों और पर्यायों के बीच पाये जानेवाले अविनाभावसंबंध, संश्लेषसंबंध, परिणाम-

परिणामीसंबंध, श्रद्धा-श्रद्धेयसंबंध, ज्ञान-ज्ञेयसंबंध, चारित्र-चर्यासंबंध आदि को अपना विषय बनाता है।[1]

असद्भूतव्यवहारनय के भेद-प्रभेदों का कथन नयचक्र में इसप्रकार दिया गया है :-

"अण्णेसिं अण्णगुणा भणइ असब्भूय तिविह भेदोवि।
सज्जाइ इयर मिस्सो णायव्वो तिविहभेदजुदो ।।२२२।।
दव्वगुणपज्जयाणं उवयारं ताण होइ तत्थेव।
दव्वे गुणपज्जाया गुणदवियं पज्जया णेया ।।२२३।।
पज्जाए दव्वगुणा उवयरियं वा हु बंधसंजुत्ता।
संबंधे संसिलेसे णाणीणं णेयमादीहिं ।।२२४।।[2]

जो अन्य के गुणों को अन्य का कहता है, वह असद्भूतव्यवहारनय है। उसके तीन भेद हैं — सजाति, विजाति और मिश्र। तथा उनमें भी प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं।

द्रव्य में द्रव्य का, गुण में गुण का, पर्याय में पर्याय का, द्रव्य में गुण और पर्याय का, गुण में द्रव्य और पर्याय का और पर्याय में द्रव्य और गुण का उपचार करना चाहिए। यह उपचार बंध से संयुक्त अवस्था में तथा ज्ञानी के ज्ञेय आदि के साथ संश्लेष संबंध होने पर किया जाता है।"

उक्त नौ प्रकारों को नयचक्र[3] में ही सोदाहरण स्पष्ट किया गया है। उन्हीं में सजाति-विजाति आदि विशेषणों को भी यथासंभव स्पष्ट कर दिया गया है।

उक्त स्पष्टीकरण मूलतः पठनीय है, जो इसप्रकार है :-

"एयंदियाइदेहा णिव्वत्ता जे वि पोग्गले काए।
ते जो भणई जीवा ववहारो सो विजाईओ ।।२२५।।

पौद्गलिक काय में जो एकेन्द्रिय आदि के शरीर बनते हैं, उन्हें जो जीव कहता है; वह विजातीय द्रव्य में विजातीय द्रव्य का आरोपण करने वाला असद्भूतव्यवहारनय है।

---

[1] "सोऽपि संबंधाविनाभावः, संश्लेषः संबंधः, परिणाम-परिणामिसंबंधः, श्रद्धा-श्रद्धेयसंबंधः, ज्ञान-ज्ञेयसंबंधः, चारित्र-चर्यासंबंधश्चेत्यादिः।"
— आलापपद्धति, पृष्ठ २२७

[2] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा २२२–२२४

[3] वही, गाथा २२५–२३३

मुत्तं इह मइणाणं मुत्तिमदव्वेण जण्णिओ जह्मा ।
जइ णहु मुत्तं णाणं तो किं खलिओ हु मुत्तेण ।।२२६।।

मतिज्ञान मूर्तिक है, क्योंकि वह मूर्तिकद्रव्य से पैदा होता है। यदि वह मूर्त्त न होता तो मूर्त्त के द्वारा स्खलित क्यों होता ? – यह विजातीय **गुण में** विजातीय **गुण का** आरोप करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय है।

दठ्ठूणं पडिबिंबं लवदि हु तं चेव एस पज्जाओ ।
सज्जाइ असब्भूओ उवयरिओ णियज्जाइपज्जाओ ।।२२७।।

प्रतिबिंब को देखकर 'वह यही पर्याय है' – ऐसा कहा जाता है। – यह स्वजाति **पर्याय में** स्वजाति **पर्याय का** उपचार करनेवाला असद्भूत-व्यवहारनय है।

णेयं जीवमजीवं तं पिय णाणं खु तस्स विसयादो ।
जो भणइ एरिसत्थं ववहारो सो असब्भूदो ।।२२८।।

ज्ञेय जीव भी है और अजीव भी है। ज्ञान के विषय होने से उन्हें जो ज्ञान (जीव का ज्ञान, अजीव का ज्ञान – इसरूप में) कहता है, वह स्वजाति-विजाति **द्रव्य में** स्वजाति-विजाति **गुण का** उपचार करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय है।

परमाणु एयदेशी बहुयपदेसी पयंपए जो हु ।
सो ववहारो णेओ दव्वे पज्जायउवयारो ।।२२९।।

जो एकप्रदेशीपरमाणु को बहुप्रदेशी कहता है, उसे स्वजाति **द्रव्य में** स्वजाति विभाव **पर्याय** का उपचार करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं।

रूवं पि भणइ दव्वं ववहारो अण्णअत्थसंभूदो ।
सेओ जह पासाओ गुणेसु दव्वाण उवयारो ।।२३०।।

अन्य अर्थ में होनेवाला व्यवहार, रूप को द्रव्य कहता है, जैसे सफेद पत्थर। यह स्वजाति **गुण में** स्वजाति **द्रव्य का** उपचार करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय है।

णाणं पि हु पज्जायं परिणममाणो दु गिह्णए जह्मा ।
ववहारो खलु जंपइ गुणेसु उवयरियपज्जाओ ।।२३१।।

परिणमनशील ज्ञान को पर्यायरूप से कहा जाता है। यह स्वजाति **गुण में** स्वजाति **पर्याय का** आरोप करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय है।

दठ्ठूण थूलखंधं पुग्गलदव्वेत्ति जंपए लोए ।
उवयारो पज्जाए पुग्गलदव्वस्स भणइ ववहारो ।।२३२।।

स्थूलस्कंध को देखकर लोक में उसे 'यह पुद्गलद्रव्य है' – ऐसा कहते हैं। यह स्वजाति विभाव **पर्याय में** स्वजाति **द्रव्य का** उपचार करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय है।

दठ्ठूण देहठाणं वण्णंतो होइ उत्तमं रूवं ।
गुण उवयारो भणिओ पज्जाए णत्थि संदेहो ।।२३३।।

शरीर के आकार को देखकर उसका वर्णन करते हुए कहना कि कैसा उत्तमरूप है। यह स्वजाति **पर्याय में** स्वजाति **गुण का** आरोप करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय है।"

उक्त सम्पूर्ण उदाहरण अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के हैं; क्योंकि इनमें मात्र उपचार किया गया है, उपचार में उपचार नहीं। जहाँ उपचार में उपचार किया जाता है, वहाँ उपचारित-असद्भूतव्यवहारनय होता है।

उपचारित-असद्भूतव्यवहारनय के स्वरूप और भेद-प्रभेदों का स्पष्टीकरण द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र में इसप्रकार किया गया है :–

"उवयारा उवयारं सच्चासच्चेसु उहयअत्थेसु ।
सज्जाइइयरमिस्सो उवयरिओ कुणइ ववहारो ।।२४२।।

सत्य, असत्य और सत्यासत्य पदार्थों में तथा स्वजातीय, विजातीय और स्वजाति-विजातीय पदार्थों में जो एक उपचार के द्वारा दूसरे उपचार का विधान किया जाता है, उसे उपचरितासद्भूतव्यवहारनय कहते हैं।

देसवई देसत्थो अत्थवणिज्जो तहेव जपंतो ।
मे देसं मे दव्वं सच्चासच्चंपि उहयत्थं ।।२४३।।

'देश का स्वामी कहता है कि यह देश मेरा है' – यह सत्य-उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है; 'देश में स्थित व्यक्ति कहता है कि देश मेरा है' – यह असत्य-उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है और 'व्यापारी अर्थ का व्यापार करते हुए कहता है कि धन मेरा है' – यह सत्यासत्य-उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है।

पुत्ताइ बंधुवग्गं अहं च मम संपयाइ जप्पंतो ।
उवयारासब्भूओ सजाइदव्वेसु णायव्वो ।।२४४।।

'पुत्रादि बन्धुवर्गरूप मैं हूँ या यह मेरी संपदा है' – इसप्रकार का कथन करना स्वजाति-उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है।

आहरणहेमरयणं वच्छादीया ममेदि जप्पंतो ।
उवयरियग्रसब्भूग्रो विजाइदव्वेसु णायव्वो ।।२४५।।

'आभरण, सोना, रत्न और वस्त्रादि मेरे हैं' – यह कथन विजाति-उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है ।

देसंव रज्जदुग्गं मिस्सं ग्रण्णं च भणइ मम दव्वं ।
उहयत्थे उवयरिग्रो होइ ग्रसब्भूदववहारो ।।२४६।।

देश के समान राज्य व दुर्ग आदि मिश्र अन्यद्रव्यों को अपना कहता है, वह उभय अर्थात स्वजाति-विजाति-उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है ।"

उक्त सम्पूर्ण कथन का गहराई से मंथन करने पर यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि जिन भिन्नपदार्थों में निकट का अर्थात् सीधा-संबंध होता है, वे तो अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के अन्तर्गत आते हैं तथा जिनका सबंध दूर का होता है अर्थात् जो संबंधी के भी संबंधी होने से परस्पर संबंधित होते हैं; उनको उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय अपना विषय बनाता है ।

जैसे – शरीर तो आत्मा से सीधा संबंधित है, पर माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि, मकान आदि शरीर के माध्यम से संबंधित हैं । अतः आत्मा और शरीर का संबंध अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय बनता है, तथा आत्मा और स्त्री-पुत्रादि व मकानादि का संबंध उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय का विषय बनता है ।

इसीप्रकार स्वजातीय और विजातीय संबंधों को भी समझ लेना चाहिए । जब आत्मा और शरीर का संबंध बताया जाता है, तब आत्मा चेतनजाति का और शरीर अचेतनजाति का होने से दोनों का संबंध विजातीय कहा जाता है । जब पिता-पुत्र का सम्बन्ध बताया जाता है, तब पिता व पुत्र दोनों के चेतन होने से वह संबंध सजातीय कहा जाता है ।

इसीप्रकार सर्वत्र घटित कर लेना चाहिए ।

(८) **प्रश्न** :– 'ज्ञाता-ज्ञेय संबंध को संश्लेषसंबंध अर्थात् निकट का संबंध मानकर अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय में रखा गया है; जबकि उनमें अत्यधिक दूरी पाई जा सकती है, क्योंकि सर्वज्ञ भगवान का ज्ञेय तो अलोकाकाश भी होता है । तथा मकान व पुत्रादि को दूर का संबंधी मानकर उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय में डाला गया है, जबकि वे निकट के संबंधी प्रतीत होते हैं । लोक में भी जैसा एकत्व या ममत्व पुत्रादि व मकानादि में देखा जाता है, वैसा ज्ञेयों में नहीं ।'

इस कथन में क्या विशेषहेतु है ? कृपया स्पष्ट करें।

उत्तर :– संबंधों की निकटता न तो क्षेत्र के आधार पर निश्चित होती है और न एकत्व या ममत्वबुद्धि के आधार पर।

जिन दो पदार्थों में सीधा (डायरेक्ट) संबंध पाया जाता है, उन्हें निकटवर्ती या संश्लिष्ट कहते हैं; तथा जिनमें वे दोनों पदार्थ किसी तीसरे माध्यम से (इन-डायरेक्ट) संबंधित होते हैं, उन्हें दूरवर्त्ती या असंश्लिष्ट कहा जाता है। संश्लिष्ट पदार्थों में मात्र उपचार करने से काम चल जाता है, पर असंश्लिष्ट पदार्थों में उपचार में भी उपचार करना होता है।

जिसप्रकार साले और बहनोई परस्पर संबंधी हैं और साले का साला और बहनोई का बहनोई परस्पर संबंधी नहीं, संबंधी के भी संबंधी हैं। लोक में भी जो व्यवहार संबंधियों के बीच पाया जाता है, वह व्यवहार सम्बन्धियों के संबंधियों में परस्पर नहीं पाया जाता।

संबंधियों के बीच अनुपचरित-उपचार होता है और संबंधियों के भी संबंधियों के साथ उपचार भी उपचरित ही होता है।

ज्ञान और ज्ञेय के बीच सीधा संबंध है, अतः उनमें अनुपचरित-उपचार का अर्थात् अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का प्रयोग होता है और स्त्री-पुत्रादि व मकानादि के साथ जो आत्मा का संबंध है, वह देह के माध्यम से होता है, अतः वह उपचरित-उपचार अर्थात् उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय बनता है।

(६) **प्रश्न :–** इन सबके जानने से लाभ क्या है ?

उत्तर :– जिनवाणी में विविधप्रकार से आत्मा का स्वरूप समझाते हुए सभीप्रकार के कथन उपलब्ध होते हैं। व्यवहारनय के उक्तप्रकारों के कथन भी जिनागम में पद-पद पर प्राप्त होते हैं। व्यवहारनयों के सम्यग्ज्ञान बिना उक्त कथनों का मर्म समझ पाना सभव नहीं है, अपितु भ्रमित हो जाना संभव है। अतः इनका जानना भी आवश्यक है। तथा इन नयों के जानने का सम्यक्फल इन सब संबंधों और उपचारों को जानकर, इनकी निस्सारता जानकर एवं इन नयकथनों को वास्तविक न जान, मात्र उपचरितकथन मानकर 'पर से विभक्त और निज में एकत्व को प्राप्त निजपरमात्मतत्त्व' में ही अहं स्थापित करना है।

समयसारादि ग्रंथराजों में भी सर्वत्र इन नयकथनों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराकर एकत्व-विभक्त आत्मा में जमने-रमने की प्रेरणा दी गई है।

समयसार की आत्मख्याति टीका के कलश २४२ में तो यहाँ तक कहा गया है कि :–

"व्यवहार विमूढदृष्टयः परमार्थ कयंलति नो जनाः ।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयंतीह तुषं न तंडुलम् ।।२४२।।

जिसप्रकार जगत में जिनकी बुद्धि तुषज्ञान में ही मोहित है; वे तुष को ही जानते हैं, तन्दुल को नहीं। उसीप्रकार जिनकी दृष्टि व्यवहार में ही मोहित है; वे जीव परमार्थ को नहीं जानते हैं।"

उक्त कथन में व्यवहार में मोहित होने का निषेध किया गया है, जानने का नहीं। व्यवहार को जानना तो है, पर उसमें मोहित नहीं होना है। मोहित होने लायक, अहं स्थापित करने लायक तो एक परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत निजशुद्धात्मद्रव्य ही है।

हन्त हस्तावलंबः

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलंबः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किञ्चित् ।।५।।

यद्यपि प्रथम पदवी में पैर रखनेवाले पुरुषों के लिए अर्थात् जबतक शुद्धस्वरूप की प्राप्ति नही हो जाती तब तक, अरे रे ! (खेदपूर्वक) व्यवहारनय को हस्तावलम्बन तुल्य कहा है; तथापि जो पुरुष चैतन्य चमत्कारमात्र, परद्रव्य के भावों से रहित, परम-अर्थस्वरूप भगवान आत्मा को अन्तरङ्ग में अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं, उसरूप लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं; उन्हें यह व्यवहार-नय किञ्चित् भी प्रयोजनवान नहीं है।

– आत्मख्याति (समयसार टीका), कलश ५

पंचाध्यायी के अनुसार व्यवहारनय के भेद-प्रभेद

अब समय आ गया है कि हम पंचाध्यायी में समागत व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों के स्वरूप पर विस्तार से चर्चा करें।

पंचाध्यायी में सद्भूत और असद्भूतव्यवहारनयों की जो चर्चा प्राप्त होती है, उसमें सद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप इसप्रकार दिया गया है :-

"व्यवहारनयो द्वेधा सद्भूतस्त्वथ भवेदसद्भूतः ।
सद्भूतस्तद्गुण इति व्यवहारस्तत्प्रवृत्तिमात्रत्वात् ।।५२५।।
अत्र निदानं च यथा सदसाधारणगुणो विवक्ष्यः स्यात् ।
अविवक्षितोऽथवापि च सत्साधारणगुणो न चान्यतरात् ।।५२६।।
अस्यावगमे फलमिति तदितरवस्तुनि निषेधबुद्धिः स्यात् ।
इतरविभिन्नो नय इति भेदाभिव्यञ्जको न नयः ।।५२७।।[1]

व्यवहारनय के दो भेद हैं—सद्भूतव्यवहारनय और असद्भूत-व्यवहारनय। जिस वस्तु का जो गुण है, उसकी सद्भूत संज्ञा है, और उन गुणों की प्रवृत्तिमात्र का नाम व्यवहार है।

इसका खुलासा इसप्रकार है कि इस नय में वस्तु का असाधारण-गुण ही विवक्षित होता है अथवा साधारणगुण अविवक्षित रहता है। इस नय की प्रवृत्ति इसीप्रकार होती है, अन्य प्रकार से नहीं।

इस नय का फल यह है कि इससे विवक्षित वस्तु के सिवा अन्य वस्तु में 'यह वह नहीं है' इसप्रकार निषेधबुद्धि हो जाती है; क्योंकि परवस्तु से भेदबुद्धि का होना ही नय है, नय कुछ भेद का अभिव्यंजक नहीं है।"

पंचाध्यायी के अनुसार असद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप इस-प्रकार है :-

"अपि चासद्भूतादिव्यवहारान्तो नयश्च भवति यथा ।
अन्यद्रव्यस्य गुणाः संयोज्यन्ते बलादन्यत्र ।।५२९।।
स यथा वर्णादिमतो मूर्तद्रव्यस्य कर्म किल मूर्तम् ।
तत्संयोगत्वादिह मूर्ताः क्रोधादयोऽपि जीवभवाः ।।५३०।।

---

[1] पंचाध्यायी, अ० १, श्लोक ५२५–५२७

कारणमन्तर्लीना द्रव्यस्य विभावभावशक्तिः स्यात् ।
सा भवति सहजसिद्धा केवलमिह जीवपुद्गलयोः ।।५३१।।
फलमागन्तुकभावादुपाधिमात्रं विहाय यावदिह ।
शेषस्तच्छुद्धगुणः स्यादिति मत्वा सुदृष्टिरिह कश्चित् ।।५३२।।
अत्रापि च संदृष्टिः परगुणयोगाच्च पाण्डुरः कनकः ।
हित्वा परगुणयोगं स एव शुद्धोऽनुभूयते कैश्चित् ।।५३३।।[1]

अन्यद्रव्य के गुणों की बलपूर्वक अन्य द्रव्य में संयोजना करना असद्भूतव्यवहारनय है ।

उदाहरणार्थ वर्णादिवाले मूर्त्तद्रव्य का कर्म एक भेद है, अतः वह भी मूर्त्त है । उसके संयोग से क्रोधादि यद्यपि मूर्त्त हैं, तो भी उन्हें जीव में हुए कहना असद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण है ।

इस नय की प्रतीति का फल यह है कि जितने भी आगन्तुक भाव हैं, उनमें से उपाधि का त्याग कर देने पर जो शेष बचता है, वही उस वस्तु का शुद्धगुण है । ऐसा माननेवाला पुरुष ही सम्यग्दृष्टि है ।

उदाहरणार्थ सोना दूसरे पदार्थ के गुण के संबंध से कुछ सफेद-सा प्रतीत होता है, परन्तु जब उसमें से परवस्तु के गुणों का संबंध छूट जाता है, तब वही सोना शुद्धरूप से अनुभव में आने लगता है ।"

उक्त कथन में पंचाध्यायीकार ने सद्भूत और असद्भूतव्यवहारनयों के स्वरूप एवं विषयवस्तु का जिसप्रकार स्पष्टीकरण किया है, उससे यह बात स्पष्ट होती है कि उनके मतानुसार सद्भूतव्यवहारनय वस्तु के असाधारणगुण के आधार पर वस्तु को परवस्तु से भिन्न स्थापित करता है । उनके अनुसार इस नय का प्रयोजन भी परवस्तु से भिन्नता की प्रतीतिमात्र है । उनका स्पष्ट कहना है कि यह नय अखण्डवस्तु में भेद करके वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करनेवाले भेद का अभिव्यंजक नहीं है, अपितु परसे भिन्नता बतानेवाला ही है ।

यद्यपि असद्भूतव्यवहारनय की परिभाषा तो यहाँ भी बहुत-कुछ अन्य ग्रंथों के अनुसार ही दी गई है, तथापि यहाँ क्रोधादि को जीवका कहना – यह असद्भूतव्यवहारनय का विषय बताया गया है, जबकि अन्यत्र क्रोधादि को जीव का बताना, सदभूतव्यवहारनय के भेदों में लिया जाता है ।

---

[1] पंचाध्यायी, अ० १, श्लोक ५२९–५३३

पंचाध्यायीकार को अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए इसमें कुछ खींच-तान भी करनी पड़ी है। क्रोधादिभाव, जो कि जीव के ही विकारी भाव हैं, उन्हें पहले तो पुद्गलकर्मों के संयोग से उत्पन्न होने के कारण मूर्त्त कहा गया और फिर उन्हें अमूर्त्तजीव का कहकर असद्भूतव्यवहार-नय का विषय बताया गया। उन्हें यहाँ **'अन्यद्रव्यस्य गुणाः संयोज्यन्ते बलादन्यत्र'** की संपूर्त्ति इसप्रकार करनी पड़ी।

इस संबंध में विशेष चर्चा व्यवहारनय के उपचरित-अनुपचरित, सद्भूत-असद्भूत आदि सभी भेद-प्रभेदों के स्पष्टीकरण के उपरान्त करना ही समुचित होगा।

अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप और विषयवस्तु पंचाध्यायी में इसप्रकार दी गई है :–

"स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सतः।
तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेषनिरपेक्षम् ॥५३५॥
इदमत्रोदाहरणं ज्ञानं जीवोपजीवि जीवगुणः।
ज्ञेयालम्बनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवि स्यात् ॥५३६॥
घट सद्भावे हि यथा घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः।
अस्ति घटाभावेऽपि च घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ॥५३७॥[1]

जिस पदार्थ की जो आत्मभूत शक्ति है, उसको जो नय अवान्तर भेद किए बिना सामान्यरूप से उसी पदार्थ की बताता है, वह अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय है।

इस विषय में यह उदाहरण है कि जिसप्रकार जीव का ज्ञानगुण सदा जीवोपजीवी रहता है, उसप्रकार वह ज्ञेय को जानते समय भी ज्ञेयोपजीवी नहीं होता।

जैसे घट के सद्भाव में जीव का ज्ञानगुण घट की अपेक्षा किये बिना चैतन्यरूप ही है, वैसे घट के अभाव में भी जीव का ज्ञानगुण घट की अपेक्षा किए बिना चैतन्यरूप ही है।"

उपचरितसद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप और विषय-वस्तु पंचाध्यायी में इसप्रकार दी गई है :–

"उपचरितः सद्भूतो व्यवहारः स्यान्नयो यथा नाम।
अविरुद्धं हेतुवशात्परतोऽप्युपचर्यते यतः स्वगुणः ॥५४०॥

---

[1] पंचाध्यायी, अ० १, श्लोक ५३५–५३७

अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणमिति लक्ष्यतेऽधुनापि यथा।
अर्थः स्वपरनिकायो भवति विकल्पस्तु चित्तदाकारम् ॥५४१॥
असदपि लक्षणमेतत्सन्मात्रत्वे सुनिर्विकल्पत्वात्।
तदपि न विनावलम्बान्निर्विषयं शक्यते वक्तुम् ॥५४२॥
तस्मादनन्यशरणं सदपि ज्ञानं स्वरूपसिद्धत्वात्।
उपचरितं हेतुवशात् तदिह ज्ञानं तदन्यशरणमिव ॥५४३॥[1]

हेतुवश स्वगुण का पररूप से अविरोधपूर्वक उपचार करना उपचरितसद्भूतव्यवहारनय है।

जैसे अर्थविकल्पात्मकज्ञान प्रमाण है, यह प्रमाण का लक्षण है। यह उपचरितसद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण है। स्व-परसमुदाय का नाम अर्थ है और ज्ञान का उसरूप होना ही विकल्प है।

सत्सामान्य निर्विकल्पक होने के कारण, उसकी अपेक्षा यद्यपि यह लक्षण असत् है, तथापि आलम्बन के बिना विषयरहित ज्ञान का कथन करना शक्य नहीं है।

इसलिए यद्यपि ज्ञान दूसरों की अपेक्षा किए बिना ही स्वरूपसिद्ध होने से सद्रूप है, तथापि हेतु के वश से यहाँ उसका दूसरे की अपेक्षा से उपचार किया जाता है।"

पंचाध्यायीकार के उक्त कथन की आगम के अन्य कथनों से तुलना करते हुए पंडित देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री दोनों कथनों के अन्तर को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं :–

"अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय के विषय में तीनों ग्रन्थों के दृष्टिकोण में प्राय: अन्तर है। अनगारधर्मामृत और आलापपद्धति में यह बतलाया है कि जिस वस्तु का जो शुद्धगुण है, उसको उसीका बतलाना शुद्धसद्भूतव्यवहारनय है। अनगारधर्मामृत में इस नय का उदाहरण देते हुए लिखा है कि केवलज्ञान आदि को जीव का कहना शुद्धसद्भूत-व्यवहारनय है।

तथा पंचाध्यायी में यह दृष्टिकोण लिया गया है कि जिसद्रव्य की जो शक्ति है, विशेष की अपेक्षा किए बिना सामान्यरूप से उसे उसी द्रव्य की बताना अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय है। पंचाध्यायी के इस लक्षण के अनुसार 'ज्ञान जीव का है' – यह अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण ठहरता है।

---

[1] पंचाध्यायी, अ० १, श्लोक ५४०–५४३

बात यह है कि अनगारधर्मामृत और आलापपद्धति में शुद्धता और अशुद्धता का विभाग करके इस नय का कथन किया गया है। किन्तु पंचाध्यायी में ऐसा विभाग करना इष्ट नहीं है। वहाँ यद्यपि उपाधि का त्याग इष्ट है, परन्तु यह कथन सब प्रकार से निरुपाधि होना चाहिए। ज्ञान के साथ 'केवल' पद लगाना यह भी एक उपाधि है। अतः 'केवलज्ञान जीव का है', ऐसा न कहकर 'ज्ञान जीव का है' ऐसा कथन करना ही अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय है – यह पंचाध्यायीकार का अभिप्राय है।[1]

यहाँ 'अर्थ विकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है' – ऐसा कहना उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण बतलाया है। इस उदाहरण के अनुसार 'ज्ञान प्रमाण है' इतना तो सद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण ठहरता है और उसे अर्थविकल्पात्मक कहना यह उपचार ठहरता है।

यद्यपि ज्ञान स्वरूपसिद्ध है, तथापि उसे अर्थविकल्पात्मक बतलाया जाता है। इसलिए यह उपचरितसद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण हुआ। अनगारधर्मामृत में 'मतिज्ञान आदि जीव के हैं –' यह उपचरितसद्भूत-व्यवहारनय का उदाहरण दिया है। वहाँ उपचार का कारण अशुद्धता ली गई है, जबकि पंचाध्यायी में इसका कारण निजगुण का पररूप से कथन करना लिया गया है।

इसप्रकार इन दोनों विवेचनों में क्या अन्तर है – यह स्पष्ट हो जाता है।[2]"

अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप और विषयवस्तु पंचाध्यायी में इसप्रकार दी गई है :–

"अपि वाऽसद्भूतो योऽनुपचरिताख्यो नयः स भवति यथा ।
क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभवाः ।।५४६।।
कारणमिह यस्य सतो या शक्तिः स्याद् विभावभावमयी ।
उपयोगदशाविष्टा सा शक्तिः स्यात्तदाप्यनन्यमयी ।।५४७।।
फलमागन्तुकभावाः स्वपरनिमित्ता भवन्ति यावन्तः ।
क्षणिकत्वान्नादेया इति बुद्धिः स्यादनात्मधर्मत्वात् ।।५४८।।[3]

जब अबुद्धिपूर्वक होनेवाले अर्थात् बुद्धि में न आनेवाले क्रोधादिक भाव जीव के विवक्षित होते हैं, तब अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय प्रवृत्त होता है।

---

[1] पंचाध्यायी, पृष्ठ १०६
[2] वही, पृष्ठ १०७
[3] वही अ० १, श्लोक ५४६ – ५४८

इस नय की प्रवृत्ति में कारण यह है कि जिस पदार्थ की जो विभाव-भावरूप शक्ति है; वह जब उपयोगदशा से युक्त होती है, तब भी वह उससे अभिन्न होती है।

जितने भी स्व और पर के निमित्त से होनेवाले आगन्तुक भाव हैं, वे क्षणिक होने से और आत्मा के धर्म नहीं होने से आदेय नहीं हैं – ऐसी बुद्धि होना ही इस नय का फल है।"

उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप और विषयवस्तु पंचाध्यायी में इसप्रकार दी गई है :–

"उपचरितोऽसद्भूतो व्यवहाराख्यो नयः स भवति यथा।
क्रोधाद्याः औदयिकाश्चितश्चेद्बुद्धिजा विवक्ष्याः स्युः ।।५४९।।
बीजं विभावभावाः स्वपरोभयहेतवस्तथा नियमात्।
सत्यपि शक्तिविशेषे न परनिमित्ताद् बिना भवन्ति यतः ।।५५०।।
तत्फलमविनाभावात्साध्यं तदबुद्धिपूर्वका भावाः।
तत्सत्तामात्रं प्रति साधनमिह बुद्धिपूर्वका भावाः ।।५५१।।[1]

जब जीव के क्रोधादिक औदयिक भाव बुद्धिपूर्वक विवक्षित होते हैं, तब वह उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय कहलाता है।

इस नय की प्रवृत्ति में कारण यह है कि जितने भी विभावभाव होते हैं, वे नियम से स्व और पर दोनों के निमित्त से होते हैं; क्योंकि द्रव्य में विभावरूप से परिणमन करने की शक्तिविशेष के रहते हुए भी वे परनिमित्त के बिना नहीं होते।

अविनाभाव संबंध होने से अबुद्धिपूर्वक होनेवाले भाव साध्य हैं और उनका अस्तित्व सिद्ध करने के लिए बुद्धिपूर्वक होनेवाले भाव साधन है। इसप्रकार इस बात का बतलाना ही इस नय का फल है।"

पंडित देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री के विचार उक्त सन्दर्भ में भी दृष्टव्य है, जो कि इसप्रकार है :–

"यहाँ अबुद्धिपूर्वक होनेवाले क्रोधादिभावों को जीव का कहना अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय माना गया है; जबकि अनगारधर्मामृत में अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का 'शरीर मेरा है' – यह उदाहरण लिया है।

इन दोनों विवेचनों में मौलिक अन्तर है।

---

[1] पंचाध्यायी, अ० १, श्लोक ५४९-५५१

यहाँ निजगुण-गुणी भेद को व्यवहार का प्रयोजक माना है। और क्रोधादिक वैभाविकशक्ति की विभावरूप उपयोगदशा का परिणाम है, जो विभावरूप उपयोगदशा निमित्ताधीन मानी गई है। इसी से इस व्यवहार को असद्भूत कहा है। यह व्यवहार अनुपचरित इसलिए कहलाया, क्योंकि क्रोध चारित्र नामक निजगुण की ही विभावदशा है।

किन्तु यह दृष्टि अनगारधर्मामृत के उदाहरण में दिखाई नहीं देती। वहाँ परवस्तु में निजत्वकल्पना को असद्भूतव्यवहार का प्रयोजक माना गया है। परन्तु पंचाध्यायीकार ऐसी कल्पना को समीचीन नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि दो पदार्थों में स्पष्टतः भेद है। उनमें से किसी एक को संबंध विशेष के कारण किसी एक का कहना, यह समीचीन नय नहीं है।[1]

क्रोधादिक जीव के हैं, यह असद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण है – यह पहिले ही सिद्ध कर आये हैं। किन्तु भृकुटी का चढ़ना, मुख का विवर्ण हो जाना, शरीर में कम्प होना इत्यादि क्रियाओं को देखकर क्रोधादिक को बुद्धिगोचर मानना, उपचरित होने से प्रकृत में क्रोधादिक बुद्धिजन्य हैं' – इस मान्यता को उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय बतलाया है।

किन्तु अनगारधर्मामृत में उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण 'देश मेरा है' यह दिया है।

इन दोनों में मौलिक अन्तर है। यह तो स्पष्ट ही है। विशेष खुलासा अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के विवेचन में कर ही आये हैं, उसीप्रकार यहाँ भी कर लेना चाहिए।"[2]

उक्त सन्दर्भ में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का विश्लेषण भी दृष्टव्य है। समयसार गाथा ११ की आत्मख्याति टीका पर प्रवचन करते हुए उन्होंने इस विषय को इसप्रकार स्पष्ट किया है :–

"ज्ञान में ज्ञात हो – ऐसा बुद्धिपूर्वक राग तथा 'ज्ञान में ज्ञात न हो' ऐसा अबुद्धिपूर्वक राग – ऐसा दोनों ही प्रकार का राग वस्तु में नहीं है, 'इस राग को जाननेवाला ज्ञान' भी वस्तु में नहीं है। और 'ज्ञान सो आत्मा' ऐसा भेद भी वस्तु में नहीं है। व्यवहारनय ऐसे अविद्यमान अर्थ को प्रगट करता है, इसकारण अभूतार्थ है। दूसरे प्रकार कहें तो द्रव्य अखण्डवस्तु है', उसमें भेद या राग नहीं है। उसे प्रगट करनेवाला होने से व्यवहारनय अभूतार्थ कहा जाता है।

---

[1] पंचाध्यायी, पृष्ठ १०७
[2] वही, पृष्ठ १०८

अभूत अर्थ को प्रगट करनेवाला व्यवहारनय चार प्रकार का है :-

(१) उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय

(२) अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय

(३) उपचरितसद्भूतव्यवहारनय

(४) अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय

आत्मा की पर्याय में जो राग है, वह मूल सत्‌रूप वस्तु में नहीं है, इसलिए असद्भूत है; भेद किया, इसलिए व्यवहार है और ज्ञान में स्थूलरूप से जाना जाता है, इसलिए उपचरित है। इसप्रकार राग को आत्मा का कहना उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

जो सूक्ष्मराग का अंश वर्त्तमानज्ञान में नहीं जाना जाता, ज्ञान की पकड़ में नहीं आता, वह अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप है। उस आत्मा का ज्ञान राग को जानता है, पर को जानता है – ऐसा कहने से वह ज्ञान स्वयं का होने से सद्भूत; त्रिकाली में भेद किया, इसलिए व्यवहार और ज्ञान स्वयं का होने पर भी पर को जानता है – ऐसा कहना वह उपचार है। इसप्रकार 'राग का ज्ञान' ऐसा कहना (अर्थात् ज्ञान राग को जानता है – ऐसा कहना) उपचरितसद्भूतव्यवहारनय है।

'ज्ञान वह आत्मा' ऐसा भेद करके कथन करना, अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय है; 'ज्ञान वह आत्मा' यह कहने से भेद पड़ा, वह व्यवहार; किन्तु वह भेद आत्मा को बताता है, इसलिए वह अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय है।[1]"

नयचक्र, आलापपद्धति और अनगारधर्मामृत आदि ग्रन्थों के आधार पर निरूपित व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों और पंचाध्यायी में निरूपित व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों पर जब हम तुलनात्मकरूप से दृष्टि डालते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पंचाध्यायीकार ने अन्यत्र निरूपित शुद्धसद्भूत और अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय के विषय को शुद्धसद्भूत, अशुद्धसद्भूत, अनुपचरित-असद्भूत और उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के इन चारों प्रकारों में फैला दिया है।

जिन रागादिकभावों को अन्यत्र अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय के विषय के रूप में बताया गया है, उन्हें पंचाध्यायीकार असद्भूतव्यवहारनय के

[1] प्रवचनरत्नाकर भाग १, पृष्ठ १३६

विषय में ले लेते हैं। असद्भूतव्यवहारनय के दो भेदों में विभाजित करने के लिए वे रागादि विकारीभावों को बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक – इन दो भेदों में विभाजित कर देते हैं।

इसप्रकार उनके अनुसार बुद्धिपूर्वक राग उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय का तथा अबुद्धिपूर्वक राग अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय बनता है।

शुद्धता और अशुद्धता का आधार बनाकर सद्भूतव्यवहारनय के जो दो भेद अन्यत्र किए गए हैं, उनमें अशुद्धता के आधार पर रागादि विकार अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय के विषय बनते हैं, किन्तु जब पंचाध्यायी-कार रागादि को असद्भूतव्यवहारनय के भेदों में ले लेते हैं तो अशुद्धसद्भूत-व्यवहारनय के विषय की समस्या उपस्थित हो जाती हैं उसका समाधान वे इसप्रकार करते हैं कि अर्थविकल्पात्मकज्ञान अर्थात् 'जो रागादि को जाने, वह ज्ञान' – यह तो अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय का विषय बनता है और सामान्यज्ञान अर्थात् 'ज्ञान वह आत्मा' – ऐसा भेद शुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय का विषय बनता है।

अब एक समस्या और भी शेष रह जाती है। वह यह कि अन्यत्र जिन संश्लेषसहित और संश्लेषरहित देह व मकानादि को असद्भूत-व्यवहारनय का विषय बताया गया है, उन्हें असद्भूतव्यवहारनय का विषय नहीं मानने पर पंचाध्यायीकार उन्हें किस नय का विषय मानते हैं?

इसके उत्तर में पंचाध्यायीकार उन्हें नय मानने से ही इन्कार कर देते हैं। वे उन्हें नयाभास कहते हैं। मात्र इतना ही नहीं, उन्हें नय मानने-वालों को मिथ्यादृष्टि कहने से भी वे नहीं चूकते हैं। उनका कथन मूलतः इसप्रकार है :–

"ननु चासद्भूतादिर्भवति स यत्रेत्यतद्गुणारोपः।
दृष्टान्तादपि च यथा जीवो वर्णादिमानिहास्त्विति चेत् ॥५५२॥
तन्न यतो न नयास्ते किन्तु नयाभाससंज्ञकाः सन्ति।
स्वयमप्यतद्गुणत्वादव्यवहाराविशेषतो न्यायात् ॥५५३॥
तदभिज्ञानं चैतद्येऽतद्गुणलक्षणा नयाः प्रोक्ताः।
तन्मिथ्यावादत्वाद् ध्वस्तास्तद्वादिनोऽपि मिथ्याख्याः ॥५५४॥
तद्वादोऽथ यथा स्याज्जीवो वर्णादिमानिहास्तीति।
इत्युक्ते न गुणः स्यात् प्रत्युत दोषस्तदेकबुद्धित्वात् ॥५५५॥

ननु किल वस्तुविचारे भवतु गुणो वाऽथ दोष एव यतः ।
न्यायबलादायातो दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहश्च ।।५५६।।
सत्यं दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहो यथा प्रमाणाद् वा ।
दुर्वारश्च तथा स्यात् सम्यङ्मिथ्येति नयविशेषोऽपि ।।५५७।।[1]

शंका :– जिसमें एक वस्तु के गुण दूसरी वस्तु में आरोपित किए जाते हैं, वह असद्भूतव्यवहारनय है । 'जीव वर्णादिवाला है' – ऐसा कथन करना, इसका दृष्टान्त है । यदि ऐसा माना जाय तो क्या आपत्ति है ?

समाधान :– यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो एक वस्तु के गुणों को दूसरी वस्तु में आरोपित करके विषय करते हैं और जो स्वयं असत्-व्यवहार में संबंध रखते हैं, वे नय नहीं हैं किन्तु नयाभास हैं ।

इसका खुलासा इसप्रकार है कि जितने भी नय एक वस्तु के गुणों को दूसरी वस्तु में आरोपित करके विषय करनेवाले कहे गये हैं, वे सब मिथ्यावाद होने से खण्डित हो जाते हैं । साथ ही उनका नयरूप से कथन करनेवाले भी मिथ्यादृष्टि ठहरते हैं ।

वह मिथ्यावाद यों हैं कि 'जीव वर्णादिवाला है' – ऐसा जो कथन किया जाता है, सो इस कथन से कोई लाभ तो है नहीं, किन्तु उल्टा दोष ही है; क्योंकि इससे जीव और वर्णादिक में एकत्वबुद्धि होने लगती है ।

शंका :– वस्तु के विचार करने में गुण हो अथवा दोष हो, किन्तु उससे कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि नय प्रवाह न्यायबल से प्राप्त है । अतः उसका रोकना कठिन है ।

समाधान :– यह कहना ठीक है कि पूर्वोक्त नयप्रवाह का प्राप्त होना अनिवार्य है, किन्तु प्रमाणानुसार कौन समीचीननय है और कौन मिथ्यानय है – इस भेद का होना भी अनिवार्य है ।"

यद्यपि पंचाध्यायीकार असद्भूतव्यवहारनय की परिभाषा में यह स्वयं स्वीकार करते हैं कि '**अन्यद्रव्यस्यगुणाः संयोज्यन्ते बलादन्यत्र** – अन्य द्रव्य के गुणों की बलपूर्वक अन्य द्रव्य में संयोजना करना असद्भूत-व्यवहारनय है' तथापि यहाँ उसी बात का निषेध करते दिखाई देते हैं ।

इस शंका को पंचाध्यायीकार स्वयं उठाते हैं, तथा इसका समाधान भी प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है :–

---

[1] पंचाध्यायी, अ० १, श्लोक ५५२-५५७

"ननु चैवं सति नियमादुक्तासद्भूतलक्षणो न नयः ।
भवति नयाभासः किल क्रोधादीनामतद्गुणारोपात् ॥५६४॥
नैवं यतो यथा ते क्रोधाद्या जीवसम्भवा भावाः ।
न तथा पुद्गलवपुषः सन्ति च वर्णादयो हि जीवस्य ॥५६५॥[1]

शंका :– यदि एक वस्तु के गुण दूसरी वस्तु में आरोपित करके उनको उस वस्तु का कहना, यह नयाभास है तो ऐसा मानने पर जो पहले असद्भूतव्यवहारनय का लक्षण कह आये हैं, उसे नय न कहकर नयाभास कहना चाहिए; क्योंकि उसमें क्रोधादिक जीव के गुण न होते हुए भी उनका जीव में आरोप किया गया है ?

समाधानः – यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे ये क्रोधादिक भाव जीव में उत्पन्न होते हैं, वैसे पुद्गलमयी वर्णादिक जीव के नहीं पाये जाते हैं । अतः असद्भूतव्यवहारनय के विषयरूप क्रोधादिक को जीव का कहना अनुचित नहीं है ।"

जिन्हें नयचक्रादि ग्रंथों में अनुपचरित और उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनयों के विषय बताया गया है, उन्हें पंचाध्यायी में नयाभास के विषय के रूप में चित्रित किया गया है ।

उक्त सम्पूर्ण विषयों को चार प्रकार के नयाभासों में वर्गीकृत किया गया है ।

प्रथम नयाभास की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं :–

"अस्ति व्यवहारः किल लोकानामयमलब्धबुद्धित्वात् ।
योऽयं मनुजादिवपुर्भवति स जीवस्ततोऽप्यनन्यत्वात् ॥५६७॥
सोऽयं व्यवहारः स्यादव्यवहारो यथापसिद्धान्तात् ।
अप्यपसिद्धान्तत्वं नासिद्धं स्यादनेकधर्मित्वात् ॥५६८॥
नाशंक्यं कारणमिदमेकक्षेत्रावगाहिमात्रं यत् ।
सर्वद्रव्येषु यतस्तथावगाहाद्भवेदतिव्याप्तिः ॥५६९॥
अपि भवति बन्ध्यबंधकभावो यदि वानयोर्न शंक्यमिति ।
तदनेकत्वे नियमात्तद्बन्धस्य स्वतोऽप्यसिद्धत्वात् ॥५७०॥
अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथः ।
न यतः स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया ॥५७१॥[2]

---

[1] पंचाध्यायी, अ० १, श्लोक ५६४-५६५

[2] वही, अ० १, श्लोक ५६७-५७१

सम्यग्ज्ञान का अभाव होने से अधिकतर लोग ऐसा व्यवहार करते हैं कि जो यह मनुष्य आदि के शरीररूप है, वह जीव है; क्योंकि वह जीव से अभिन्न है।

किन्तु यह व्यवहार सिद्धान्तविरुद्ध होने से अव्यवहार ही है। यह व्यवहार सिद्धान्तविरुद्ध है – यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि शरीर और जीव भिन्न-भिन्न धर्मी हैं।

ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है कि शरीर और जीव के एक-क्षेत्रावगाही होने से उनमें एकत्व का व्यवहार हो जायगा, क्योंकि सब द्रव्यों में एक क्षेत्रावगाहपना पाया जाने से अतिव्याप्ति नाम का दोष आ जायगा।

बन्ध्य-बंधकभाव होने से जीव को शरीररूप कहने में कोई आपत्ति नहीं है – ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जब वे दोनों नियम से अनेक हैं, तब उनका बंध मानना स्वतः असिद्ध है।

जीव और शरीर में निमित्त-नैमित्तिकभाव मानकर उक्त कथन को ठीक मानने का प्रयत्न करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो स्वतः अथवा स्वयं परिणमनशील है, उसे निमित्तपने से क्या लाभ है अर्थात् कुछ भी लाभ नहीं है।

इसप्रकार जीव और शरीर को एक बतानेवाला अर्थात् शरीर को जीव कहनेवाला नय नय नहीं, नयाभास ही है।"

दूसरे नयाभास का कथन इसप्रकार है :–

"अपरोऽपि नयाभासो भवति यथा मूर्तस्य तस्य सतः।
कर्त्ता भोक्ता जीवः स्यादपि नोकर्मकर्मकृतेः ॥५७२॥
नाभासत्वमसिद्धं स्यादपसिद्धान्तो नयस्यास्य।
सदनेकत्वे सति किल गुणसंक्रान्तिः कुतः प्रमाणाद्वा ॥५७३॥
गुणसंक्रान्तिमृते यदि कर्त्ता स्यात् कर्मणश्च भोक्तात्मा।
सर्वस्य सर्वसङ्करदोषः स्यात् सर्वशून्यदोषश्च ॥५७४॥
अस्त्यत्र भ्रमहेतु जीवस्याशुद्धपरणतिं प्राप्य।
कर्मत्वं परिणमते स्वयमपि मूर्तिमद्यतो द्रव्यम् ॥५७५॥
इदमत्र समाधानं कर्त्ता य कोऽपि सः स्वभावस्य।
परभावस्य न कर्त्ता भोक्ता वा तन्निमित्तमात्रेऽपि ॥५७६॥[1]

[1] पंचाध्यायी, अ० १, श्लोक ५७२-५७६

अथ चेद् घटकर्त्ताऽसौ घटकारो जनपदोक्तिलेशोऽयम् ।
दुर्वारो भवतु तदा का नो हानिर्यदा नयाभासः ।।५७९।।[1]

मूर्त्तद्रव्य के जो कर्म और नोकर्मरूप कार्य होते हैं, उनका यह जीव कर्त्ता और भोक्ता है – ऐसा कथन करना दूसरा नयाभास है ।

जीव को कर्म और नोकर्म का कर्त्ता और भोक्ता माननेरूप व्यवहार सिद्धान्तविरुद्ध होने से इस नय को नयाभास मानना असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि जब कर्म, नोकर्म और जीव भिन्न-भिन्न हैं, तब फिर उनमें किस प्रमाण के आधार से गुणसंक्रम बन सकेगा ?

यदि गुणसंक्रम के बिना ही जीव कर्म का कर्त्ता और भोक्ता माना जाता है, तो सर्वपदार्थों में सर्वसंकरदोष और सर्वशून्यदोष प्राप्त होता है ।

जीव की अशुद्धपरिणति के निमित्त से मूर्त्तद्रव्य स्वयं ही कर्मरूप से परिणम जाता है, यही इस विषय में भ्रम का कारण है ।

किन्तु इसका यह समाधान है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव का ही कर्त्ता है, परभाव निमित्तमात्र होने पर भी उसका कर्त्ता-भोक्ता नहीं हो सकता ।

यदि यह कहा जाय कि कुम्हार घट का कर्त्ता है – यह लोकव्यवहार होता है, इसे कैसे रोका जा सकता है ? सो इस पर यह कहना है कि यदि ऐसा व्यवहार होता है तो होने दो, इससे हमारी क्या हानि है अर्थात् कुछ भी हानि नहीं है, क्योंकि यह लोकव्यवहार नयाभास है ।"

तीसरे नयाभास का स्वरूप पंचाध्यायी में इसप्रकार दिया गया है:–

"अपरे बहिरात्मानो मिथ्यावादं वदन्ति दुर्मतयः ।
यदबद्धेऽपि परस्मिन् कर्त्ता भोक्ता परोऽपि भवति यथा ।।५८०।।

सद्वेद्योदयभावान् गृहधनधान्यं कलत्रपुत्रांश्च ।
स्वयमिह करोति जीवो भुनक्ति वा स एव जीवश्च ।।५८१।।

ननु सति गृहवनितादौ भवति सुखं प्राणिनामिहाध्यक्षात् ।
असति च तत्र न तदिदं तत्तत्कर्त्ता स एव तद्भोक्ता ।।५८२।।

सत्यं वैषयिकमिदं परमिह तदपि न परत्र सापेक्षम् ।
सति बहिरर्थेऽपि यतः किल केषाञ्चिदसुखादिहेतुत्वात् ।।५८३।।[2]

---

[1] पंचाध्यायी, अ० १, श्लोक ५७९

[2] वही, अ० १, श्लोक ५८०–५८३

कुछ अन्य दुर्मति मिथ्यादृष्टि जीव इसप्रकार मिथ्याबात करते हैं कि जो परपदार्थ जीव के साथ बंधा हुआ नहीं है, उसका भी जीव कर्त्ता-भोक्ता है।

जैसे – सातावेदनीय के उदय में निमित्त हुए घर, धन, धान्य, स्त्री और पुत्र आदिक भावों का यह जीव ही स्वयं कर्त्ता है और यह जीव ही उनका भोक्ता है।

शंका :– यह बात हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि घर और स्त्री आदि के रहने पर प्राणियों को सुख होता है और उनके अभाव में सुख नहीं होता है, इसलिए यह जीव ही उनका कर्त्ता है और यह जीव ही उनका भोक्ता है – यदि ऐसा माना जाय तो क्या आपत्ति है ?

समाधान :– यह कहना ठीक है तो भी यह वैषयिक सुख पर होता हुआ भी पर की अपेक्षा से उत्पन्न नही होता है; क्योंकि धन, स्त्री आदि परपदार्थों के रहने पर भी वे किन्हीं के लिए ही दुख के कारण देखे जाते हैं। अतः घर, स्त्री आदि का कर्त्ता और भोक्ता जीव को मानना उचित नहीं है।"

चौथे नयाभास का स्वरूप पंचाध्यायी के अनुसार इसप्रकार है :–

"अयमपि च नयाभासो भवति मिथो बोध्यबोधसंबंधः ।
ज्ञानं ज्ञेयगतं वा ज्ञानगतं ज्ञेयमेतदेव यथा ।।५८५।।
चक्षू रूपं पश्यति रूपगतं तन्न चक्षुरेव यथा ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति च ज्ञेयगतं वा न भवति तज्ज्ञानम् ।।५८६।।[1]

ज्ञान और ज्ञेय का जो परस्पर बोध्य-बोधक संबंध है, उसके कारण ज्ञान को ज्ञेयगत और ज्ञेय को ज्ञानगत मानना भी नयाभास है।

क्योंकि जिसप्रकार चक्षु रूप को देखता है, तथापि वह रूप में चला नहीं जाता, किन्तु चक्षु ही रहता है। उसीप्रकार ज्ञान ज्ञेय को जानता है, तथापि वह ज्ञेयरूप नहीं हो जाता, किन्तु ज्ञान ही रहता है।"

पंचाध्यायी में निरूपित उक्त चार नयाभासों के स्वरूप और विषय-वस्तु पर सम्यक् दृष्टिपात करने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि अन्यत्र जो विषय अनुपचरित और उपचरित असद्भूतव्यवहारनय के बताए गये हैं, उन्हें ही पंचाध्यायी में चार नयाभासों में विभाजित कर दिया गया है। अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के विषय को लेकर प्रथम, द्वितीय व

---

[1] पंचाध्यायी, अ० १, श्लोक ५८५-५८६

चतुर्थ नयाभास तथा उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय को लेकर तृतीय नयाभास निरूपित है।

प्रथम नयाभास में संश्लेषसहित पदार्थों के एकत्व को तथा दूसरे नयाभास में उन्हीं के कर्ता-कर्म संबंध को ग्रहण किया गया है। तीसरे नयाभास में संश्लेषरहित पदार्थों के कर्तृत्व को ग्रहण किया गया है, तथा चौथा नयाभास बोध्य-बोधक संबंध को लेकर बताया गया है। बोध्य-बोधक संबंध को अन्यत्र अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय में लिया गया है।

इसप्रकार प्रथम, द्वितीय एवं चतुर्थ नयाभास अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय के विषय को लेकर एवं तृतीय नयाभास उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय के विषय को लेकर कहे गये हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि व्यवहारनय और उनके भेद-प्रभेदों के स्वरूप तथा विषयवस्तु के संबंध में जिनवाणी में दो शैलियाँ प्राप्त होती हैं, जिन्हें हम अपनी सुविधा के लिए निम्नलिखित नामों से अभिहित कर सकते हैं –

(१) नयचक्रादि ग्रंथों में प्राप्त शैली
(२) पंचाध्यायी में प्राप्त शैली

इसीप्रकार की विभिन्नता निश्चयनय के संबंध में भी पाई जाती है, जिसकी चर्चा पहले की ही जा चुकी है। दोनों ही प्रसंगों पर पंचाध्यायी-कार अपनी बात को संयुक्तिक प्रस्तुत करते हुए भिन्न मत रखनेवालों के प्रति दुर्मति, मिथ्यादृष्टि आदि शब्दों का प्रयोग करते दिखाई देते हैं। जहाँ एक ओर वे निश्चयनय के भेद माननेवालों को मिथ्यादृष्टि घोषित करते हैं, वहीं दूसरी ओर संश्लेशसहित और संश्लेशरहित संबंधों को अनुपचरित और उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय माननेवालों को भी वे उसी श्रेणी में रखते दिखाई देते हैं।

जिसप्रकार तर्क-वितर्कपूर्वक उन्होंने अपने विषय को प्रस्तुत किया है, उससे यह प्रतीत तो नहीं होता कि अपरपक्ष से वे अपरिचित थे। जिन तर्कों के आधार पर जिनागम में ही अन्यत्र अपरपक्ष प्रस्तुत किया गया है, उन तर्कों को वे स्वयं उठा-उठाकर उनका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करते दिखाई देते हैं। जबकि प्रथमशैलीवाले दूसरी शैली की आलोचना तो दूर, चर्चा तक नहीं करते हैं।

उक्त सन्दर्भ में दोनों ही शैलियों की तुलनात्मक रूप से सन्तुलित चर्चा अपेक्षित है।

उक्त दोनों ही शैलियाँ आध्यात्मिक शैलियाँ हैं और दोनों ही प्रकार के प्रयोग जिनागम में कहीं भी देखे जा सकते हैं। अतः उन्हें किसी व्यक्ति-विशेष या ग्रंथविशेष के नाम से संबोधित करना उचित प्रतीत न होने पर भी काम चलाने के लिए कुछ न कुछ नाम देना तो आवश्यक है ही।

अन्य समस्त आगम और परमागम में तो प्रायः इनके प्रयोग ही पाये जाते हैं, अतः पाठकों की दृष्टि में उतना भेद स्पष्टरूप से भासित नहीं हो पाता, जितना उक्त ग्रंथों के अध्ययन से भासित होता है। इन ग्रंथों में नयों के स्वरूप एवं विषयवस्तु की दृष्टि से सीधा प्रतिपादन है। अतः यह भेद एकदम स्पष्ट हो जाता है। फिर पंचाध्यायीकार तो भिन्नता संबंधी कथनों को स्वयं उठा-उठाकर अपने कथन के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हैं। अतः भिन्नता उभरकर सामने आ जाती है। उक्त ग्रंथों के नाम पर उक्त शैलियों के नामकरण का एक कारण यह भी है।

अब हम सुविधा के लिये नयचक्रादि ग्रन्थों में प्राप्त शैली को प्रथम शैली और पंचाध्यायी में प्राप्त शैली को द्वितीयशैली के नाम से भी अभिहित करेंगे और प्रश्नोत्तरों के माध्यम से इस विषय को स्पष्ट करने का यथासंभव प्रयास करेंगे।

कथन अनेक : प्रयोजन एक

कथन तो नानाप्रकार के हों और एक ही प्रयोजन का पोषण करें तो कोई दोष नहीं, परन्तु कहीं किसी प्रयोजन का और कहीं किसी प्रयोजन का पोषण करें तो दोष ही है। अब जिनमत में तो एक रागादि मिटाने का प्रयोजन है; इसलिए कहीं बहुत रागादि छुड़ाकर थोड़े रागादि कराने के प्रयोजन का पोषण किया है, कहीं सर्व रागादि मिटाने के प्रयोजन का पोषण किया है; परन्तु रागादि बढ़ाने का प्रयोजन कहीं नहीं है, इसलिए जिनमत का सर्वकथन निर्दोष है।...............

लोक में भी (कोई) एक प्रयोजन का पोषण करनेवाले नाना कथन कहे, उसे प्रामाणिक कहा जाता है और अन्य-अन्य प्रयोजन का पोषण करने वाली बात करे, उसे बावला कहते हैं। तथा जिनमत में नानाप्रकार के कथन हैं, सो भिन्न-भिन्न अपेक्षासहित हैं, वहाँ दोष नहीं है।

— मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३०२-३०३

निश्चय-व्यवहार : विविध प्रयोग प्रश्नोत्तर

(१) **प्रश्न** :– व्यवहारनय की विषयवस्तु के संबंध में प्राप्त विविधप्रकार के प्रयोगों में जिन दो प्रकार के प्रयोगों की चर्चा की गई है, उनमें बहुत अन्तर दिखाई देता है। प्रथम शैली में जिस वस्तु को विषय करनेवाले ज्ञान या वचन को नय कहा गया है, द्वितीय शैली में उसे नयाभास बताया गया है।

परस्पर विरुद्ध होने से दोनों ही कथनों को सत्य कैसे माना जा सकता है ?

उत्तर :– उक्त दोनों कथनों में विरोध न होकर विवक्षा-भेद है। विरोध तो तब होता जब दोनों कथनों में से एक को उपादेय और दूसरे को हेय कहा जाता। यहाँ तो दोनों ही शैलियों में देह और मकानादि बाह्य पदार्थों को अपना मानने का निषेध ही किया जा रहा है। प्रथम शैली में उन्हें असद्भूतव्यवहारनय का विषय बताकर तथा द्वितीय शैली में नयाभास का विषय बताकर हेय बताया गया है।

संयोगरूप दशा में ज्ञान के प्रयोजन की सिद्धि के लिए आपतित-व्यवहार के रूप में दोनों ही शैलियों में उन्हें स्वीकार किया गया है; मात्र अन्तर इतना है कि प्रथमशैली में असद्भूतव्यवहारनय के रूप में तथा द्वितीयशैली में नयाभास के रूप में स्वीकार किया गया है।

देह और मकानादि संयोगी पदार्थों को आत्मा का कहनेवाले कथनों को अथवा देह व मकानादि की क्रिया का कर्त्ता आत्मा को कहनेवाले कथनों को वास्तविक सत्य या पारमार्थिक सत्य के रूप में तो कहीं भी स्वीकार नहीं किया गया है, उन्हें मात्र जानने के लिए प्रयोजनभूत के अर्थ में व्यवहारिक सत्य ही माना गया है, जो कि पारमार्थिकदृष्टि से असत्य ही है।

वस्तु के वास्तविक स्वरूप की दृष्टि से देखने पर यद्यपि आत्मा और देह को एक कहनेवाले कथन अथवा आत्मा को देहादिक की क्रिया का कर्त्ता कहनेवाले कथन असत्य ही हैं; तथापि जब संयोगरूप दशा की दृष्टि से देखते हैं तो उन्हें सर्वथा असत्य भी नहीं कहा जा सकता है। इसी संयोगरूप दशा का ज्ञान कराने की दृष्टि से प्रथमशैली उन्हें असद्भूत-व्यवहारनय का विषय बताती है तथा द्वितीयशैली नयाभासों के माध्यम

से इनका ज्ञान कर लेने की बात कहती है । अन्ततः तो निश्चयनय दोनों का निषेध कर ही देता है ।

अतः हम कह सकते हैं कि दोनों शैलियों को आत्मा और देह की एकता अथवा परस्पर कर्त्ता-कर्म संबंध इष्ट नहीं है; तथा आत्मा और देह की वर्त्तमान में जो एकक्षेत्रावगाहरूप संयोगी अवस्था है, उससे भी किसी को इन्कार नहीं है । इसलिए दोनों शैलियों में कोई विरोध नहीं है, मात्र विवक्षा-भेद है ।

प्रथमशैलीवालों की विवक्षा यह है कि जब संयोग है तो उसे विषय बनानेवाला नय भी होना चाहिये, चाहे वह असद्भूत ही क्यों न हो । द्वितीयशैलीवालों की विवक्षा यह है कि जब देह और आत्मा की एकता इष्ट नहीं है, तो उसे विषय बनानेवाले ज्ञान या वचन को नय संज्ञा क्यों हो ? रही बात जाननेरूप प्रयोजन की सिद्धि की, सो उक्त प्रयोजन की सिद्धि नयाभास से ही हो जावेगी ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त दोनों शैलियों में वस्तुस्थिति के सन्दर्भ में कोई मौलिक मतभेद नहीं है । जो भी मतभिन्नता दिखाई देती है, वह मात्र नामकरण के संबंध में ही है ।

प्रथमशैली के पक्ष में तर्क यह है कि जो भी स्थिति जगत में है, उसका ज्ञान करनेवाला या कथन करनेवाला नय अवश्य होना चाहिए । अतः देह और आत्मा के संयोग को जाननेवाले सम्यग्ज्ञान के अंश को नय ही मानना होगा ।

देह और आत्मा का संयोग सर्वथा काल्पनिक तो है नहीं, लोक में देह और आत्मा की संयोगरूप अवस्था पाई तो जाती ही है । तथा मकानादि के स्वामित्व का व्यवहार सम्यग्ज्ञानियों के भी पाया जाता है । इसीप्रकार 'जो मिट्टी के घड़े बनाये, वह कुंभकार और जो स्वर्ण के गहने बनाये, वह स्वर्णकार' – इसप्रकार का व्यवहार भी लोक में प्रचलित ही है ।

इन्हें किसी भी नय का विषय स्वीकार न करने पर अर्थात् देह और आत्मा के संयोगरूप त्रस-स्थावरादि जीवों को किसी भी अपेक्षा जीव नहीं मानने पर उनकी हिंसा का निषेध किस नय से होगा ? तथा ज्ञानियों की दृष्टि में कुम्हार और सुनार का भेद किस नय से होगा ? तात्पर्य यह है कि ज्ञानीजन 'यह कुम्हार है और यह सुनार' – ऐसा व्यवहार किस नय के आश्रय से करेंगे ?

द्वितीयशैली के पक्ष में जो तर्क जाता है, वह यह है कि देह और आत्मा के संयोग को देखकर उन्हें एक कहने या जानने से देह में एकत्वबुद्धि हो जाने की संभावना है। अतः ऐसे कथनों को नयकथन कहना श्रेयस्कर नहीं है। रही त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से बचने की और कुम्हार और सुनार के व्यवहार की बात, सो ये सब बातें तो लौकिक बातें हैं, इनका व्यवहार नयाभासों से ही चल जायगा।

वस्तुस्थिति यह है अध्यात्म के जोर में ही द्वितीयशैली में संश्लेष-सहित और संश्लेषरहित पदार्थों के संयोगादि को विषय बनानेवाले ज्ञान को नयाभास कहा गया है, क्योंकि उन्हें नय न मानने से जो व्यवहारापत्ति खड़ी हुई, उसके निराकरण के लिए उन्हें उपेक्षाबुद्धि से ही सही, पर नयाभासों की शरण में जाना पड़ा।

(२) **प्रश्न :–** क्या अध्यात्म के जोर में भी ऐसे कथन किये जाते हैं? किये जा सकते हैं? क्या परमागम में इसप्रकार के कथन उपलब्ध होते हैं?

उत्तर :– हाँ, हाँ; क्यों नहीं, अवश्य प्राप्त होते हैं; एक नहीं, अनेकों प्राप्त होते हैं। अध्यात्म के जोर में राग को पुद्गल कहा ही जाता है। उक्त कथन के आधार पर कोई राग में रूप, रस, गंध और स्पर्श खोजने लगे तो निराश ही होगा। अथवा कोई ऐसा सोचने लगे कि पुद्गल दो प्रकार का होता होगा – एक रूप-रस-गंधादिवाला और दूसरा इनसे रहित तो वह सत्य को नहीं पा सकेगा। आत्मा से भिन्न बताने के लिए अध्यात्म के जोर में उसे पुद्गल कहा गया है, वस्तुतः वह पुद्गल नहीं है। है तो वह आत्मा की ही विकारी पर्याय।

इसीप्रकार परजीवों को अजीव कहना, परद्रव्यों को अद्रव्य कहना – आदि कथन भी अध्यात्म के जोर में किये गये कथन हैं। परमागम में इसप्रकार के कथनों की कमी नहीं है। यदि आप परमागम का अध्ययन करेंगे तो इसप्रकार के अनेकों कथन आपको पद-पद पर प्राप्त होंगे।

जब अध्यात्म के जोर में अन्य जीव को अजीव कहा जा सकता है, परद्रव्य को अद्रव्य कहा जा सकता है, राग को पुद्गल कहा जा सकता है; तो फिर देहादि संयोगों को विषय बनानेवाले नयों को नयाभास क्यों नहीं कहा जा सकता है?

अध्यात्म के उक्त कथनों का मर्म समझने के लिए आध्यात्मिक कथनों की विवक्षाओं को गहराई से समझना होगा, अन्यथा अध्यात्म पढ़कर भी आत्मा हाथ नहीं आवेगा।

यदि आप इसप्रकार के कथनों से आश्चर्यचकित होंगे तो फिर अध्यात्म जगत में आपको ऐसे अनेकों आश्चर्यों का सामना करना होगा। कहीं आत्मा को सातवाँ द्रव्य लिखा मिलेगा तो कहीं दशवाँ पदार्थ। कहीं पुण्य और पाप दोनों एक[1] अथवा पुण्य को भी पाप बताया गया होगा[2] तो कहीं केवलज्ञानादि क्षायिकभावों को परद्रव्य कहकर हेय बताया गया होगा।[3]

इसका तात्पर्य यह नहीं समझना कि आध्यात्मिक कथन ऊटपटांग होते हैं। वे ऊटपटांग तो नहीं, पर अटपटे अवश्य होते हैं। वे कथन किसी विशिष्ट प्रयोजन से किये गये कथन होते हैं, उनके माध्यम से ज्ञानीजन कोई विशिष्ट बात कहना चाहते हैं। हमें उक्त कथनों की गहराई में जाने का प्रयत्न करना चाहिए, उन्हें ऊटपटांग जानकर वैसे ही नहीं छोड़ देना चाहिए, अपितु इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि वे कथन किस विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए किये गये हैं तथा उनकी विवक्षा क्या है ?

उक्त कथनों का वजन हमारे ध्यान में आना चाहिए, तभी हम उनके मर्म तक पहुँच सकेंगे। अध्यात्म के जोर में किये गये कथनों का वास्तविक मर्म तो तभी प्राप्त होगा, जबकि हम अध्यात्म के उक्त जोर में से स्वयं गुजरेंगे, पार होंगे और उनका मर्म हमारी अनुभूति का विषय बनेगा।

कबीर की उलटवासियों के समान अध्यात्म के ये कथन अपने भीतर गहरे मर्म छिपाये होते हैं। ये कथन अध्यात्म के रंग में सराबोर

---

[1] पुण्य-पाप अधिकार, समयसार; प्रवचनसार, गाथा ७७ एवं पुण्य-पाप एकत्व द्वार समयसार नाटक आदि मे इस बात को विस्तार से समझाया गया है।

[2] जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु इ को वि मुणेइ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेइ ॥७१॥

पाप को पाप तो सब जानते हैं; परन्तु जो पुण्य को भी पाप जानता है, वह कोई बिरला विद्वान ही होता है। – योगसार, गाथा ७१

[3] पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा ॥५०॥

पूर्वोक्त सर्व भाव (क्षायिक आदि) पर स्वभाव हैं, परद्रव्य हैं; इसलिए हेय हैं। अन्तस्तत्त्व स्वद्रव्य आत्मा ही उपादेय है – नियमसार, गाथा ५०

अपने में ही मगन ज्ञानियों के अन्तर से सहज प्रस्फुटित होते हैं। इन्हें भाषा और शैलियों की चौखट में फिट करना आसान नहीं है, ये कथन लीक पर चलने के आदी नहीं होते। किसी विशिष्ट लीक पर चलकर इनके मर्म को नहीं पाया जा सकता। मात्र पढ़-पढ़कर इनका मर्म नहीं पाया जा सकता, इनके मर्म को पाने के लिए अनुभूति की गहराइयों में उतरना होगा।

(३) **प्रश्न :–** यदि ऐसा मान लिया जाय तो समस्या हल हो सकती है कि प्रथमशैली आगम की है और द्वितीयशैली अध्यात्म की।

उत्तर :– नहीं, भाई ! यह दोनों ही शैलियाँ अध्यात्म की ही हैं। आगम और अध्यात्म की शैली का अन्तर नहीं जानने के कारण ही आप ऐसी बात करते हैं।

आगम और अध्यात्म शैली में मूलभूत अन्तर यह है कि आगमशैली में नयों का प्रयोग छहों द्रव्यों की मुख्यता से होता है, जबकि अध्यात्मशैली में आत्मा की मुख्यता से नयों का प्रयोग होता है। आगम की शैली में वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन मुख्य रहता है और अध्यात्मशैली में आत्मा के हित की मुख्यता रहती है।

मुख्यरूप से आगम के नय द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत हैं। उपनय भी आगम के नयों में ही आते हैं, जिनके भेद सद्भूतव्यवहारनय, असद्भूतव्यवहार-नय और उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय हैं।

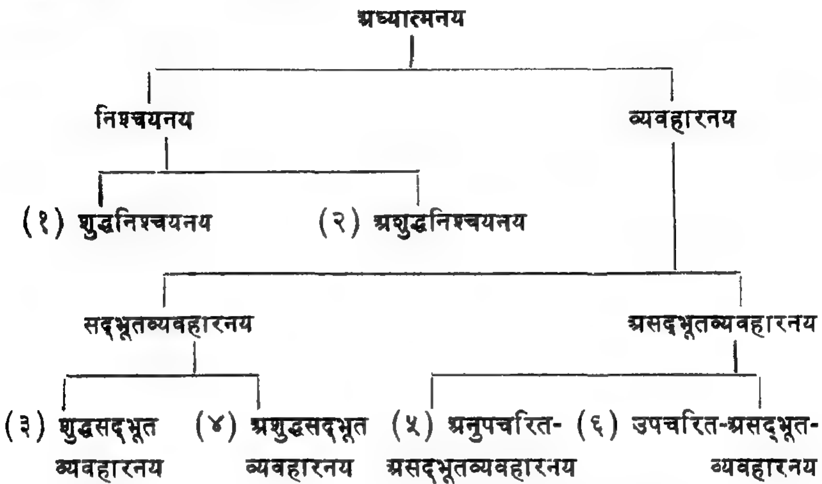
इसीप्रकार मुख्यरूप से अध्यात्म के नय निश्चय और व्यवहार हैं।

यद्यपि आगम के नयों में भी आत्मा की चर्चा होती है, क्योंकि छह द्रव्यों में आत्मा भी तो आ जाता है; तथापि आगम के नयों में जो आत्मा की चर्चा पाई जाती है – वह वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन की मुख्यता से होती है, आत्महित की मुख्यता से नहीं।

यद्यपि वस्तुस्वरूप की समझ भी आत्महित में सहायक होती है, तथापि वस्तुस्वरूप की दृष्टि से किये गये प्रतिपादन में और आत्महित की दृष्टि से किये गये प्रतिपादन में शैलीगत अन्तर अवश्य है।

यद्यपि निश्चय-व्यवहारनय मुख्यरूप से अध्यात्म के नय है, तथापि जब उनका प्रयोग आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्यों के सन्दर्भ में होता है, तो आगम के नयों के रूप में होता है।

अध्यात्मनयों की चर्चा करते हुए नयचक्र,[1] आलापपद्धति[2] और; बृहद्द्रव्यसंग्रह[3] में उनके छह भेद गिनाये गये हैं। उनमें दो प्रकार के निश्चयनय और चार प्रकार के व्यवहारनय। इन्हें निम्नलिखित चार्ट से अच्छीतरह समझा जा सकता है: –



उक्त अध्यात्मनयों का स्वरूप सोदाहरण बृहद्द्रव्यसंग्रह में इसप्रकार दिया गया है :–

"अथ अध्यात्मभाषया नयलक्षणं कथ्यते।

सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावाः इति शुद्धनिश्चयनयलक्षणम्। रागादय एव जीवाः इत्यशुद्धनिश्चयनयलक्षणम्। गुणगुणिनोरभेदोऽपि भेदोपचार इति सद्भूतव्यवहारलक्षणम्। भेदेऽपि सत्यभेदोपचार इत्यसद्भूतव्यवहारलक्षणम्। तथाहि – जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणा इत्यनुपचरितसंज्ञशुद्धसद्भूतव्यवहारलक्षणम्। जीवस्य मतिज्ञानादयो विभावगुणा इत्युपचरित संज्ञाशुद्धसद्भूतव्यवहारलक्षणम्। 'मदीयो देहमित्यादि' संश्लेषसंबन्धसहित पदार्थः पुनरनुपचरितसंज्ञासद्भूतव्यवहारलक्षणम्। यत्र तु संश्लेषसंबन्धो नास्ति तत्र 'मदीयः पुत्र इत्यादि' उपचरिताभिधानासद्भूतव्यवहारलक्षणमिति नयचक्रमूलभूतं संक्षेपेण नयषट्कं ज्ञातव्यमिति।[4]

[1] देवसेनाचार्यकृत नयचक्र, पृष्ठ २५-२६
[2] आलापपद्धति, पृष्ठ २२८
[3] बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३ की टीका
[4] वही

अब अध्यात्मभाषा से नयों के लक्षण कहते हैं :–

'सर्व जीव शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभाववाले हैं' – यह शुद्धनिश्चयनय का लक्षण है। 'रागादि ही जीव हैं' – यह अशुद्धनिश्चयनय का लक्षण है। 'गुण और गुणी अभेद होने पर भी भेद का उपचार करना' – यह सद्भूत-व्यवहार का लक्षण है। 'जीवके केवलज्ञानादि गुण हैं' – यह अनुपचरित-शुद्धसद्भूतव्यवहार का लक्षण है। 'जीवके मतिज्ञानादि विभावगुण हैं' – यह उपचरित-अशुद्धसद्भूतव्यवहार का लक्षण है। संश्लेषसंबंधवाले पदार्थों में 'शरीरादि मेरे हैं' – यह अनुपचरित-असद्भूतव्यवहार का लक्षण है। जहाँ संश्लेषसंबंध नहीं है – 'वहाँ पुत्रादि मेरे हैं' – यह उपचरित-असद्भूतव्यवहार का लक्षण है।

इसप्रकार नयचक्र के मूलभूत छह नय संक्षेप में जानना चाहिए।"

उक्त सम्पूर्ण नयों की विषयवस्तु बताते समय आत्मा को सामने रखा गया है। तथा प्रत्येक नय का वजन (महिमा) आत्महित की मुख्यता से निश्चित किया गया है। उनकी भूतार्थता और अभूतार्थता का आधार भी आत्महित की दृष्टि को बनाया गया है।

पंचाध्यायी में व्यवहारनय के तो चारों भेद स्वीकार कर लिये गये हैं, किन्तु उनकी विषयवस्तु के संबंध में भिन्न अभिप्राय व्यक्त किया गया है तथा निश्चयनय के भेद उन्हें स्वीकार नहीं हैं। इन सबकी चर्चा विस्तार से की ही जा चुकी है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि यह दोनों ही शैलियाँ अध्यात्म शैलियाँ हैं।

(४) **प्रश्न** :– प्रतिपादन चाहे वस्तुस्वरूप की मुख्यता से हो, चाहे आत्महित की मुख्यता से; होगा तो वैसा ही जैसा वस्तु का स्वरूप है, अन्यथा तो हो नहीं सकता। आत्महित भी तो वस्तुस्वरूप की सच्ची समझ से ही होता है। अतः दोनों दृष्टियों से किये गये प्रतिपादन में अन्तर कैसे हो सकता है ? यदि होता है तो किसप्रकार का होता है ? कृपया उदाहरण देकर समझाइये।

उत्तर :– जब हम स्कूल में छात्रों को भारत की परिवहन व्यवस्था मानचित्र द्वारा समझाते हैं तो हमारी प्रतिपादन शैली जिसप्रकार की होती है, किसी पथिक को रास्ता बताते समय उसप्रकार की नहीं होती। मानचित्र द्वारा परिवहन व्यवस्था समझाते समय हमारी दृष्टि में सम्पूर्ण भारत रहता है। भारत के प्रमुख नगर, ग्रामादि के साथ-साथ परिवहन

के विभिन्न साधनों का भी ध्यान रखना होता है। हवाई मार्ग, रेलमार्ग, सड़कें आदि की अपेक्षा सभी बातें विस्तार से बतानी होती हैं, किन्तु रेलवे स्टेशन पर खड़े किसी व्यक्ति द्वारा किसी नगर विशेष को जाने का रास्ता पूछने पर उक्त नगर को जानेवाली उपयुक्त ट्रेन को बता देना ही अभीष्ट होता है। उसने सामने भारत की परिवहन व्यवस्था संबंधी मानचित्र खोलकर सभी स्थानों के सभी मार्गों को बताने का उपक्रम नहीं किया जाता है।

उसीप्रकार आगम महासागर है। उसमें तो सम्पूर्ण विश्व व उसकी प्रत्येक इकाई का स्वरूप, संरचना, परिणमन व्यवस्था आदि सभी बातें विस्तार से समझाई जाती हैं। अध्यात्म आगम का ही एक अंग है, उसमें आत्मार्थी को मात्र परमार्थ आत्मा का स्वरूप ही समझाया जाता है, क्योंकि परमार्थ आत्मा के आश्रय से ही मुक्ति की प्राप्ति संभव है।

जिसप्रकार मानचित्र में चित्रित परिवहन व्यवस्था में वह मार्ग भी निश्चितरूप से दिखाया गया होता है, जो मार्ग कोई विशेष पथिक जानना चाहता है, तथापि विभिन्न मार्गों की भीड़ में उसे खोज पाना साधारण नागरिक के लिए संभव नहीं होता। जब उसी मार्ग की मुख्यता से बने मानचित्र को देखते हैं तो वह मार्ग सर्वसाधारण को भी एकदम स्पष्ट हो जाता है। उसी मार्ग की मुख्यता से बना विशिष्ट मानचित्र यद्यपि परिवहन व्यवस्था संबंधी मानचित्र का ही अंग होता है, तथापि उसकी रचना कुछ इसप्रकार की होती है कि जिसमें उक्त मार्ग विशेष रूप से प्रकाशित होता है।

उसीप्रकार आगम में भी आत्महितकारी कथन है, तथापि उसमें वस्तुस्वरूप का सभी कोणों से अति विस्तृत प्रतिपादन होने से उसमें से अपनी प्रयोजनभूत बात निकाल लेना सर्वसाधारण के वश की बात नहीं है। आगम के ही एक अंग अध्यात्म में प्रयोजनभूत बात की मुख्यता से ही कथन होने से उसकी बात आत्महित में विशेष हेतु बनती है।

(५) **प्रश्न** :– तो क्या आगम में अप्रयोजनभूत बातों का भी कथन होता है ?

उत्तर :– क्यों नहीं, अवश्य होता है। प्रयोजनभूत तो जीवादि तत्वार्थ ही हैं। शेष सब तो अप्रयोजनभूत ही है। आगम का उद्देश्य तो सम्पूर्ण वस्तुव्यवस्था का विवेचन करना होता है। यदि आगम के सम्पूर्ण कथन को प्रयोजनभूत मानेंगे तो फिर सम्पूर्ण आगम के जानकार

को ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होगा तथा सम्यक्चारित्र सम्यग्दृष्टि को ही होता है, अतः चारित्र भी उन्हीं को होगा। इसप्रकार श्रुतकेवली के अतिरिक्त किसी भी छद्मस्थ को मोक्षमार्ग का आरंभ भी नहीं होगा। अतः यह निश्चित हुआ कि मुक्तिमार्ग की सम्यक् जानकारी के लिए ही नहीं, अपितु उस पर चलने के लिए भी आगम की सम्पूर्ण जानकारी आवश्यक नहीं है; किन्तु अध्यात्म में निरूपित जानकारी अत्यन्त आवश्यक है, उसके बिना मुक्ति मार्ग का आरंभ संभव नहीं है।

(६) **प्रश्न** :– तो क्या फिर आपके अनुसार आगम का अभ्यास करना व्यर्थ है ?

उत्तर :– नहीं, भाई ! व्यर्थ नहीं है। हमने तो यह कहा था कि सम्यग्दर्शनादिरूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण आगम का पढ़ना अनिवार्य नहीं है और आप उसे व्यर्थ बताने लगे, वह भी हमारे नाम पर। अध्यात्म भी तो आगम का ही अंग है। अध्यात्म का मर्म जानना अनिवार्य होने से आगम का अध्ययन भी अंशतः अनिवार्य तो हो ही गया, किन्तु सम्पूर्ण आगम का पढ़ना अनिवार्य नहीं है, फिर भी उपयोगी अवश्य है; क्योंकि आगम में सर्वत्र आत्मा को जानने की प्रेरणा दी गई है। आत्महित का प्रेरक होने से उसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

दूसरे आगम और अध्यात्म के शास्त्रों में ऐसा कोई विशेष विभाजन भी तो नहीं है कि आगम शास्त्रों में अध्यात्म-चर्चा ही न हो या अध्यात्म शास्त्रों में आगम की बात आती ही न हो। भेद तो मात्र मुख्यता का है। समयसारादि शास्त्रों में अध्यात्म की मुख्यता है और गोम्मटसारादि शास्त्रों में आगम की मुख्यता है। आगम और अध्यात्म एक दूसरे के विरोधी नहीं, अपितु पूरक हैं। आगम के अध्ययन से अध्यात्म की पुष्टि ही होती है। अतः जितना बन सके आगम का अभ्यास भी अवश्य करना चाहिए।

आगम, अध्यात्म के लिए और आगमाभ्यास, अध्यात्मियों के लिए आधार प्रदान करता है, उदाहरण प्रस्तुत करता है। आगम और अध्यात्म शैली का भेद आगमाभ्यास के निषेध के लिए नहीं समझाया जा रहा है, अपितु यह भेद इसलिए स्पष्ट किया जा रहा है कि जिससे आप दोनों शैलियों में निरूपित वस्तुस्वरूप का सम्यक्-परिज्ञान कर सकें।

हाँ, यह बात अवश्य है कि यदि आपके पास समय कम है और बुद्धि का विकास भी कम है तो आपको अध्ययन में प्राथमिकता का निर्णय

तो करना ही होगा। प्राथमिकता के निर्णय में अध्यात्म को ही मुख्यता देनी होगी, अन्यथा यह अमूल्य नरभव यों ही चला जायगा।

यदि आप अपनी बुद्धि और समय की कमी के कारण आगम का विस्तृत अभ्यास नहीं कर पाते हैं तो उससे आपको अपना हित करने में विशेष परेशानी तो नहीं होगी, पर इस बहाने आगम के अभ्यास की निरर्थकता सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयास न करें।

जिनके पास समय है, बुद्धि भी तीक्ष्ण है और जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही आत्महित के लिए समर्पित कर दिया है; वे लोग भी यदि अध्यात्म के साथ-साथ आगम का अभ्यास नहीं करेंगे तो फिर कौन करेगा।

आचार्यकल्प पंडित श्री टोडरमलजी ने चारों ही अनुयोगों के स्वरूप और प्रतिपादन शैली का विस्तृत विवेचन[1] करते हुए सभी के अध्ययन को उपयोगिता पर विस्तार से प्रकाश डाला है। विस्तारभय से यहाँ उसे देना संभव नहीं है। जिज्ञासु पाठकों से उसे मूलतः पढ़ने का साग्रह अनुरोध है।

आगम का विरोधी अध्यात्मी नहीं हो सकता, अध्यात्म का विरोधी आगमी नहीं हो सकता। जो आगम का मर्म नहीं जानता, वह अध्यात्म का मर्म भी नहीं जान सकता और जो अध्यात्म का मर्म नहीं जानता, वह आगम का मर्म भी नहीं जान सकता। सम्यग्ज्ञानी आगमी भी है और अध्यात्मी भी, तथा मिथ्याज्ञानी आगमी भी नहीं और अध्यात्मी भी नहीं होता।

पंडित श्री बनारसीदासजी परमार्थवचनिका में लिखते हैं :—

"वस्तु का जो स्वभाव उसे आगम कहते हैं, आत्मा का जो अधिकार उसे अध्यात्म कहते है। मिथ्यादृष्टि जीव न आगमी, न अध्यात्मी। क्यों ? इसलिए कि कथनमात्र तो ग्रंथपाठ के बल से आगम-अध्यात्म का स्वरूप उपदेश मात्र कहता है, आगम-अध्यात्म का स्वरूप सम्यक्-प्रकार से नहीं जानता, इसलिए मूढ़ जीव न आगमी, न अध्यात्मी; निर्वेदकत्वात्।"

(७) **प्रश्न :**— सद्भूतव्यवहारनय, असद्भूतव्यवहारनय और उपचरित-असद्भूतव्यवहारनयों को आगम के नयों में भी गिनाया है और अध्याय के नयों में भी — इसका क्या कारण है। क्या वे दोनों शैलियों के नय हैं ? यदि हाँ तो उनमें परस्पर क्या अन्तर है ?

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार

उत्तर – हाँ, ये नय दोनों ही शैलियों में पाये जाते हैं। आगमशैली में उपनय के नाम से तीन भेदों में प्राप्त होते हैं तथा अध्यात्मशैली में व्यवहार नय के भेद-प्रभेदों के रूप में चार प्रकार के होते हैं। इन सब की चर्चा पहले की ही जा चुकी है। अध्यात्मशैली में इनका प्रयोग आत्मा के सन्दर्भ में ही होता है, जबकि आगमशैली में सभी द्रव्यों के सन्दर्भ में इनका प्रयोग पाया जाता है। यही कारण है कि जिसप्रकार आगम के असद्भूतव्यवहारनय में स्वजातीय, विजातीय आदि भेद बनते हैं; उसप्रकार के भेद अध्यात्म के असद्भूतव्यवहारनय में नहीं होते। तथा द्रव्य में द्रव्य का उपचार आदि नौ भेद भी आगम के असद्भूतव्यवहारनय में ही बनते हैं, अध्यात्म के असद्भूतव्यवहारनय में नहीं।

अध्यात्म के नयों के सभी उदाहरण आगम में भी प्राप्त हो सकते हैं, आगम के भी माने जा सकते हैं, क्योंकि अध्यात्म आगम का ही एक अंग है और आत्मा भी छह द्रव्यों में से ही एक द्रव्य है। परन्तु आगम के सभी नय अध्यात्म पर भी घटित हों – यह आवश्यक नहीं है।

आगम समस्त लोकालोक को अपने में समेटे होने से उसका क्षेत्र विस्तृत है और उसकी प्रकृति भी विस्तार में जाने की है। मात्र आत्मा तक सीमित होने तथा अपने में ही सिमटने की प्रकृति होने से अध्यात्म के नयों में भेद-प्रभेदों का वैसा विस्तार नहीं पाया जाता, जैसा कि आगम के नयों में पाया जाता है।

आगम फैलने की, और अध्यात्म अपने में ही सिमटने की प्रक्रिया का नाम है।

(८) **प्रश्न** :– यदि यह बात है तो फिर आपने अध्यात्मनयों की चर्चा में आगम के इन नयों का उल्लेख क्यों किया? इससे यह भ्रम हो सकता है कि ये भी अध्यात्म के ही नय हैं।

उत्तर :– निश्चय-व्यवहार यद्यपि मुख्यरूप से अध्यात्म के नय हैं, तथापि इनका प्रयोग आगम में होता ही न हो। – ऐसी बात भी नहीं है। जब निश्चय-व्यवहार का प्रयोग छहों द्रव्यों की मुख्यता से होता है, तब आगम के नयों के रूप में ही होता है। तथा आत्मा की मुख्यता से होता है तो अध्यात्म के नयों के रूप में उनका प्रयोग पाया जाता है। अतः ऐसा कहना पर्णतः सत्य नहीं है कि यह मात्र अध्यात्मनयों की ही चर्चा चल रही है; हाँ यह बात अवश्य है कि निश्चय-व्यवहार की यह चर्चा अध्यात्म की मुख्यता से अवश्य की जारही है। अतः गौणरूप से की गई आगम के नयों की चर्चा

असंगत नहीं है। ग्रन्थ चाहे अध्यात्म के हों अथवा आगम के, अधिकांश ग्रन्थों में आगम और अध्यात्म – दोनों प्रकार के नयों का प्रयोग प्राप्त होता है। उनके अध्ययन करते समय यदि एक ही प्रकार के नयों का ज्ञान हो तो अनेक भ्रम उत्पन्न हो सकते हैं। इसप्रकार के भ्रम उत्पन्न न हो, इसलिए दोनों प्रकार के व्यवहारों का एक साथ स्पष्टीकरण कर देना उचित प्रतीत हुआ। तथा दोनों प्रकार के नयों का स्पष्ट उल्लेख कर देने से किसी भी प्रकार के भ्रम उत्पन्न होने की संभावना स्वतः समाप्त हो जाती है। दोनों की तुलनात्मक स्थिति स्पष्ट करने के लिए भी यही अवसर उपयुक्त था, क्योंकि जब आगे चलकर आगम के नयों की विस्तृत चर्चा होगी, तब तक के लिए इस विषय को यों ही अस्पष्ट छोड़ देने से अनेक आशंकाएँ अवश्य उत्पन्न हो सकती थी।

(९) **प्रश्न** :– अध्यात्मनयों में निश्चयनय के दो ही प्रकार बताएँ हैं, जबकि आपने चार प्रकार के निश्चयनयों की चर्चा की है। क्या इसका भी कोई विशेष कारण है ?

उत्तर :– अध्यात्मशास्त्रों में शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय के साथ-साथ एकदेशशुद्धनिश्चयनय और परमशुद्धनिश्चयनय शब्दों का भी प्रयोग खुलकर हुआ है। अतः निश्चयनय के भेदों में उनका उल्लेख आवश्यक था, अन्यथा भ्रम उत्पन्न हो सकते थे। ये दोनों भेद शुद्धनिश्चय-नय के ही हैं, अतः इन्हें समग्र रूप से शुद्धनिश्चयनय भी कहा जा सकता है। इसलिए निश्चयनय के दो या चार भेद कहने में कोई विरोध या मतभेद की बात नहीं है।

इनका स्पष्टीकरण यथास्थान बहुत विस्तार से किया जा चुका है, अतः उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

(१०) **प्रश्न** :– आत्महित के लिए जिन बातों का जानना अनिवार्य नहीं है – ऐसी अप्रयोजनभूत बातों को आगम में क्यों समझाया गया है ?

उत्तर :– जब तक कोई दर्शन समग्र वस्तु व्यवस्था पर प्रकाश नहीं डालता, तब तक वह दर्शन नाम प्राप्त नहीं कर सकता। प्रयोजनभूत तत्त्वों की जानकारी प्राप्त करते समय आत्मार्थी जिज्ञासुओं को भी अप्रयोजनभूत तत्त्वों के सम्बन्ध में भी सहज जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती हैं, उनका समाधान भी आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु भी समग्र विश्व व्यवस्था का प्रतिपादन आवश्यक ही है।

जिसप्रकार एक वकील को कानून की जानकारी तो अनिवार्य है, क्योंकि उसके बिना वह वकालात करेगा कैसे ? किन्तु अन्य विषयों का ज्ञान होना यद्यपि उसके लिए अनिवार्य नहीं है, तथापि अन्य विषयों का भी सामान्य ज्ञान तो अपेक्षित है ही। उसीप्रकार एक आत्मार्थी को प्रयोजनभूत आत्मा आदि पदार्थों का जानना अनिवार्य है, अन्यथा वह आत्मानुभव करेगा कैसे ? किन्तु अप्रयोजनभूत पदार्थों का ज्ञान यद्यपि उसके लिए अनिवार्य नहीं है, तथापि अप्रयोजनभूत पदार्थों का भी सामान्य ज्ञान तो अपेक्षित है ही।

आध्यात्मिक ग्रंथों में प्रतिपादित प्रयोजनभूत शुद्धात्मादि तत्त्व तो आगम, अनुमानादि के साथ-साथ प्रत्यक्षानुभूतिगम्य पदार्थ हैं, किन्तु अप्रयोजनभूत पदार्थ तो अल्पज्ञों द्वारा आगमादि परोक्षज्ञानों द्वारा ही जाने जा सकते हैं। अतः उनका प्रतिपादन भी आवश्यक होने से आगम में उनका प्रतिपादन किया गया है।

परमात्मा आत्मज्ञ होने के साथ-साथ सर्वज्ञ भी होते हैं, तथा प्रत्येक आत्मा भी परमात्मा के समान आत्मज्ञ व सर्वज्ञस्वभावी है। वीतरागी परमात्मा की निरक्षरी दिव्यध्वनि में आत्मा के समान सर्वलोक का प्रतिपादन भी सहज होता है। उस दिव्यध्वनि के आधार पर गणधरदेवादि आचार्य परम्परा द्वारा जिन शास्त्रों का निर्माण होता है, उनमें भी आत्मा के साथ-साथ सर्वलोक का भी प्रतिपादन होता है। उनमें से जिनमें आत्मा आदि प्रयोजनभूत तत्त्वार्थों की चर्चा होती है, वे अध्यात्म शास्त्र कहे जाते हैं और जिनमें सर्व जगत की व सर्व प्रकार की चर्चायें होती हैं, उन्हें आगम कहते हैं। आगम और अध्यात्म – दोनों को मिलाकर भी आगम कहा जाता है।

इसप्रकार आगम और अध्यात्म – दोनों ही भगवान की वाणी हैं। उनमें हीनाधिक का भेद करना उचित नहीं है, तथापि बुद्धि की अल्पता और समय की कमी आदि के अनुसार प्राथमिकता का निर्णय तो करना ही होगा। इस प्रक्रिया में प्रयोजनभूत पदार्थों को सहज प्राथमिकता प्राप्त होने से आत्मार्थी की दृष्टि में आगम की अपेक्षा अध्यात्म को सहज प्राथमिकता प्राप्त हो जाती है। बस बात इतनी ही है, परन्तु इसमें आगम के प्रतिपादन या अध्ययन की निरर्थकता खोजना बुद्धिमानी का काम नहीं है।

(११) प्रश्न :– अध्यात्म के नयों में द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक तथा नैगमादि नयों की चर्चा नहीं है, किन्तु आगम में निश्चय-व्यवहार के साथ-साथ उक्त नयों की भी चर्चा है। इसका क्या कारण है ?

उत्तर :– आगम और अध्यात्मशैली में मूलभूत अन्तर यह है कि अध्यात्मशैली की विषयवस्तु आत्मा, आत्मा की विकारी-अविकारी पर्यायें और आत्मा से परवस्तुओं के संबंधमात्र है। आगमशैली की विषय-वस्तु छहों प्रकार के समस्त द्रव्य, उनकी पर्यायें और उनके परस्पर के संबंध आदि स्थितियाँ हैं। इसी बात को सूत्ररूप में कहें तो इसप्रकार कह सकते है कि – "आगम का प्रतिपाद्य सन्मात्र वस्तु है और अध्यात्म का प्रतिपाद्य चिन्मात्र वस्तु है।"

अपने प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने के लिए अध्यात्म को मात्र तीन बातों का स्पष्टीकरण अपेक्षित है।

(१) अभेद अखण्ड चिन्मात्र वस्तु

(२) चिन्मात्र वस्तु का अंतरंग वैभव एवं उपाधियाँ

(३) चिन्मात्र वस्तु का पर से संबंध और उनकी अभूतार्थता।

चिन्मात्र वस्तु के उक्त दृष्टिकोणों से प्रतिपादन के लिए अध्यात्म शैली ने निश्चय-व्यवहारनयों तक ही अपने को सीमित रखा और उक्त तीनों बिन्दुओं के स्पष्टीकरण के लिए उसने क्रमशः निश्चयनय, सद्भूत-व्यवहारनय और असद्भूतव्यवहारनय का उपयोग किया है।

आगमशैली को अपनी विषयवस्तु के स्पष्टीकरण के लिए अनेक प्रकार के अनेकों नय स्वीकार करने पड़े, क्योंकि उसका क्षेत्र असीमित है। उसकी सीमा में छहों द्रव्य, उनके गुण और पर्यायें मात्र नही हैं, अपितु उससे आगे उनके परस्पर संयोग-वियोग, मानसिक संकल्प, लौकिक उपचार, निक्षेपों-संबंधी व्यवहार आदि सबकुछ भी समाहित हैं। यही कारण है कि उसे निश्चय-व्यवहार के अतिरिक्त, द्रव्यों को ग्रहण करने-वाला द्रव्यार्थिकनय, पर्यायों को ग्रहण करनेवाला पर्यायार्थिकनय, संकल्पों को ग्रहण करनेवाला नैगमनय, विभिन्न द्रव्यों का संग्रह करनेवाला संग्रहनय, संगृहीत द्रव्यों में भेद करनेवाला व्यवहारनय, एक समय की पर्याय को ग्रहण करनेवाला ऋजुसूत्रनय, शब्दों के प्रयोगों का ग्राहक शब्दनय, रूढ़ियों का ग्राहक समभिरूढनय, एवं तात्कालिक क्रियाकलापों को ग्रहण करनेवाला एवंभूतनय स्वीकार करना पड़ा। इनके अतिरिक्त उपनय भी हैं। इन सबके भेद-प्रभेदों का बहुत विस्तार है। इन सब की

चर्चा आगे चलकर यथास्थल ही की जावेगी। अतः यहाँ उनके विस्तार में जाना प्रासंगिक न होगा।

(१२) **प्रश्न :–** इसका मतलब तो यह हुआ कि अभी तो बहुत कुछ बाकी है। क्या हमको यह सब समझना होगा? ये सब बातें तो विद्वानों की हैं; हमें इन सबसे क्या? हमारे पास इतना समय नहीं है कि इन सब में माथा मारें, हमें तो सीधा सच्चा मार्ग चाहिए। आप कहें तो चाहे जितना रुपया खर्च कर सकते हैं, पर इन सब चक्करों में पड़ना अपने बस की बात नहीं है। हम तो आत्मार्थी हैं, हमें कोई पण्डित थोड़े ही बनना है; जो इन सबमें उलझें?

उत्तर :– भाई! बात तो ऐसी ही है। अभी तो मात्र निश्चय-व्यवहार की ही चर्चा हुई है। द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, नैगमादि सात नय; उपनय तथा प्रवचनसार में समागत ४७ नयों की चर्चा अभी शेष है। पर घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। मुक्तिमार्ग तो सीधा, सच्चा, सरल और सहज है।

भाई! तुम तो स्वभाव से अनन्तज्ञान के धनी, ज्ञानानंदस्वभावी भगवान आत्मा हो; स्वभाव में भरा अनंतआनंद और अनंतज्ञान पर्याय में भी प्रगट करने अर्थात् पर्याय में भगवान बनने के संकल्पवाले आत्मार्थी बन्धु हो। सर्वज्ञ बनने के आकांक्षी होकर इतना जानने से ही घबड़ाने लगे। ज्ञान का कोई भार नहीं होता – यह जानते हुए भी ऐसा क्यों कहते हो कि क्या हमें भी यह सब समझना होगा? भाई! तुम्हें तो मात्र अपना आत्मा ही जानना होगा, शेष सब तो तुम्हारे ज्ञान में झलकेंगे। ये सब तुम्हारे ज्ञान में सहज ही प्रतिबिम्बित हों, क्या इसमें भी तुम्हें ऐतराज है? यदि हाँ तो फिर आप सर्वज्ञ भी क्यों बनना चाहते हैं? क्योंकि सर्वज्ञ बन जाने पर तो लोकालोक के समस्त पदार्थ आपके ज्ञानदर्पण में प्रतिबिम्बित होंगे।

'ये सब बातों तो विद्वानों की हैं, हमें इनसे क्या? हम तो आत्मार्थी हैं।' – ऐसा कहकर आप क्या कहना चाहते हैं? क्या जिनवाणी का अध्ययन-मनन करना मात्र विद्वानों का काम है, आत्मार्थियों का नहीं? क्या विद्वान आत्मार्थी नहीं होते या आत्मार्थी विद्वान नहीं हो सकता? भाई! सच्चा आत्मार्थी ही वास्तविक विद्वान होता है और जिनवाणी का जानकार विद्वान ही सच्चा आत्मार्थी हो सकता है। जिनवाणी के अध्ययन-मनन में अरुचि प्रगट करनेवाले, जिनवाणी के अध्ययन-मनन को हेय समझनेवाले, विषयकषाय और धंधापानी में अन्धे होकर उलझे रहनेवाले लोग आत्मार्थी नहीं हो सकते।

क्या जिनवाणी का अध्ययन उलझना है और पण्डित बनना कोई पाप है, जो आप ऐसा कहते हैं कि हमें कोई पण्डित थोड़े ही बनना है, जो इनमें उलझें। अरे, पण्डित बन जाओगे तो कोई नरक में नहीं चले जाओगे। जिनवाणी का अध्ययन उलझना नहीं, सुलझना है और पण्डित बनना हीनता की नहीं, गौरव की बात है। लगता है पण्डित शब्द का वास्तविक अर्थ आप नहीं जानते, इसीलिए ऐसी बातें करते हैं। आत्मज्ञानी ही वास्तविक पण्डित होते हैं। बनारसीदासजी, टोडरमलजी और समयसार के हिन्दी टीकाकार पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भी तो पण्डित ही थे।

'आप कहे तो चाहे जितना खर्च कर सकते है, पर इन में उलझना अपने वश की बात नहीं है' – इस कथन में आपकी यह मान्यता ही स्पष्ट होती है कि दुनियाँ की सब चीजें धन से प्राप्त की जा सकती है। पर ध्यान रखिए; ज्ञानस्वभावी आत्मा ज्ञान से ही प्राप्त होगा, धन से नही। यहाँ आपका धन किसी काम नहीं आयगा। यदि आप जिनवाणी के अध्ययन को उलझना समझते हैं तो आपको ज्ञानस्वभावी आत्मा कभी समझ में नहीं आयगा।

तथा यह कहना कि 'हमारे पास इतना समय नहीं है, जो इसमें माथा मारें। हमें तो सीधा-सच्चा मार्ग चाहिए।' – यह भी कितना हास्यास्पद है कि 'समय नहीं है', अरे! कहाँ चला गया है समय? दिन-रात में तो वही चौबीस घण्टे ही हो रहे हैं। यह कहिए न कि विषय-कषाय से फुरसत नहीं है, धूल-मिट्टी जोड़ने से फुरसत नहीं है। परन्तु भाई! ये सब निगोद के रास्ते हैं, नरक के रास्ते हैं; इनसे समय निकालना ही होगा। धन्धे-पानी और विषय-कषाय में उपयोग बर्बाद करने को ज्ञान का सदुपयोग और आगम के अध्ययन को माथा मारना कहनेवालों को हम क्या कहें?

'इन्हें तो सीधा-सच्चा मार्ग चाहिए' – भाई! मार्ग तो सीधा-सच्चा ही है। तुमने अपनी अरुचि से उसे दुर्गम मान रखा है या फिर धर्म के नाम पर धन्धा करनेवालों ने तुम्हें बहका रखा है, जो ऐसी बातें करते हो।

शान्त होवो! धैर्य से सुनो!! सब-कुछ समझ में आवेगा!!! सब-कुछ सहज है; जिनवाणी में सर्वत्र सुलझाव ही सुलझाव है, कहीं कोई उलझाव नहीं है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि यदि आपकी बुद्धि मन्द है और शक्ति क्षीण है तो जितना बन सके, उतना स्वाध्याय करो; पर जिनवाणी के

अध्ययन-मनन को व्यर्थ तो न बताओ। उसके अध्ययन-मनन करने में जीवन लगा देनेवालों को निठल्ला तो मत समझो। बहाने न बनाओ, जितना बन सके उतना जिनागम का अभ्यास अवश्य करो, तुम्हारा कल्याण भी अवश्य होगा।

(१३) **प्रश्न** :– लगता है, आप नाराज हो गये हैं ?

उत्तर :– नाराज होने की बात नहीं है भाई ! पर यह बात अवश्य है कि यदि कोई बात समझ में न आवे तो उपयोग और अधिक स्थिर करके समझना चाहिए, समझने का प्रयत्न करना चाहिए। फिर भी न आवे तो जिज्ञासाभाव से विनयपूर्वक पूछना चाहिए। पर यह कहाँ तक ठीक है कि यदि हमारी समझ में कोई बात नहीं आती है, तो हम उसे निरर्थक ही बताने लगें।

(१४) **प्रश्न** :– तो आखिर आप चाहते क्या हैं ?

उत्तर :– कुछ नहीं, मात्र यह कि सम्पूर्ण जगत जितना बन सके, जिनवाणी का अभ्यास अवश्य करे। क्योंकि सच्चे सुख और शान्ति की मार्गदर्शक यह नित्यबोधक वीतरागवाणी ही है, जिनवाणी ही है। इस निकृष्टकाल में साक्षात् वीतरागी-सर्वज्ञ परमात्मा का तो विरह है, अतः उनकी दिव्यध्वनि के श्रवण का साक्षात् लाभ मिलना संभव नहीं है। सन्मार्गदर्शक सच्चे गुरुओं की भी विरलता ही समझो। हमारे परम सद्भाग्य से एकमात्र जिनवाणी ही है, जो सदा, सर्वत्र, सभी को सहज उपलब्ध है। यदि हम बहानेबाजी करके उसकी भी उपेक्षा करेंगे तो समझ लेना कि चारगति और चौरासी लाख योनियों में भटकते-भटकते कहीं ठिकाना न लगेगा।

धर्मपिता सर्वज्ञ परमात्मा के विरह में एक जिनवाणी माता ही शरण है। उसकी उपेक्षा हमें अनाथ बना देगी। आज तो उसकी उपासना ही मानो जिनभक्ति, गुरुभक्ति और श्रुतभक्ति है। उपादान के रूप में निजात्मा और निमित्त के रूप में जिनवाणी ही आज हमारा सर्वस्व है। निश्चय से जो कुछ भी हमारे पास है, उसे निजात्मा में और व्यवहार से जो कुछ भी बुद्धि, बल, समय और धन आदि हमारे पास हैं, उसे जिनवाणी माता की उपासना अध्ययन, मनन, चिन्तन, संरक्षण, प्रकाशन, प्रचार व प्रसार में ही लगा देने में इस मानवजीवन एवं जैनकुल में उत्पन्न होने की सार्थकता है।

अतः विषय-कषाय, व्यापार-धन्धा और व्यर्थ के वादविवादों से समय निकालकर वीतरागवाणी का अध्ययन करो, मनन करो, चिन्तन

करो, बन सके तो दूसरों को भी पढ़ाओ, पढ़ने की प्रेरणा दो, इसे जन-जन तक पहुँचाओ, घर-घर में बसाओ। स्वयं न कर सको तो यह काम करने-वालों को सहयोग अवश्य करो। वह भी न कर सको तो कम से कम इस भले काम की अनुमोदना ही करो। बुरी होनहार से यह भी संभव न हो तो कम से कम इसके विरुद्ध वातावरण तो मत बनाओ, इस काम में लगे लोगों की टाँग तो मत खींचो! इसके अध्ययन मनन को निरर्थक तो मत बताओ, इसके विरुद्ध वातावरण तो मत बनाओ। यदि आप इस महान कार्य को नहीं कर सकते, करने के लिए लोगों को प्रेरणा नही दे सकते, तो कम से कम इस कार्य में लगे लोगों को निरुत्साहित तो मत करो, उनकी खिल्ली तो मत उड़ाओ। आपका इतना सहयोग ही हमें पर्याप्त होगा।

आशा है आप हमारी बात पर गम्भीरता से विचार करेंगे। यदि आपने हमारे दर्द को पहिचानने का यत्न किया और हमारी बात को गम्भीरता से लिया तो सहज ही यह समझ में आ जावेगा कि आखिर हम चाहते क्या है?

(१५) **प्रश्न** :– हमने जिनवाणी के अध्ययन मनन का निषेध कब किया है? हमने तो इन नयों के चक्कर में न उलझने की बात कही थी?

उत्तर – भाई! नयों के अध्ययन मनन को चक्कर मत कहो। यह चक्कर नहीं, चौरासी के चक्कर से उबरने का मार्ग है। जैसा कि पहले कहा भी जा चुका है कि समस्त जिनवाणी नयों की भाषा में निबद्ध है। अतः जिनवाणी का वास्तविक मार्म जानने के लिए नयों का स्वरूप भी जानना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। जिनवाणी के व्याख्याकारों में आज जितने भी विवाद दिखाई देते हैं, वे सब नयों के सम्यक्परिज्ञान के अभाव में ही हैं। अतः जितना बन सके, नयों का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। यदि विशेष विस्तार में न जा सको तो सामान्य अभ्यास तो अवश्य ही करना चाहिए। अन्यथा जिनवाणी में गोता लगाने पर भी कुछ हाथ न आवेगा। इसके अध्ययन के जितने विस्तार और गहराई में जाओगे, ज्ञान में उतनी ही निर्मलता बढ़ेगी; अतः बुद्धि, शक्ति और समय के अनुसार इसका गहराई से अध्ययन करने में कृपणता (कंजूसी) नही करना।

सभी आत्मार्थी इनके सम्यक्अभ्यास-पूर्वक आत्मानुभूति प्राप्त करें – इस भावना से नयचक्र की निम्नाङ्कित गाथा का स्मरण करते/कराते हुए निश्चय-व्यवहार के विस्तार से विराम लेता हूँ :–

"जइ इच्छह उत्तरिदुं अण्णाणमहोवहिं सुलीलाए ।
ता णादुं कुणह मई णयचक्के दुणयतिमिरमत्तण्डे ।।[1]

यदि लीलामात्र से अज्ञानरूपी सागर को पार करने की इच्छा है तो दुर्नयरूपी अंधकार के लिए सूर्य के समान इस नयचक्र को जानने में अपनी बुद्धि को लगाओ ।



उपदेश ग्रहण करने की पद्धति

"शास्त्रों में कहीं निश्चयपोषक उपदेश है, कहीं व्यवहारपोषक उपदेश है । वहाँ अपने को व्यवहार का आधिक्य हो तो निश्चयपोषक उपदेश का ग्रहण करके यथावत् प्रवर्त्ते और अपने को निश्चय का आधिक्य हो तो व्यवहारपोषक उपदेश का ग्रहण करके यथावत् प्रवर्त्ते ।

तथा पहले तो व्यवहार श्रद्धान के कारण आत्मज्ञान से भ्रष्ट हो रहा था, पश्चात् व्यवहार उपदेश ही की मुख्यता करके आत्मज्ञान का उद्यम न करे; अथवा पहले तो निश्चय श्रद्धान के कारण वैराग्य से भ्रष्ट होकर स्वच्छन्दी हो रहा था, पश्चात् निश्चय उपदेश की ही मुख्यता करके विषय-कषाय का पोषण करता है ।

इस प्रकार विपरीत उपदेश ग्रहण करने से बुरा ही होता है ।

– मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २९८

---

[1] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा ४१९

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

१. **अनगारधर्मामृत** : पण्डित आशाधरजी; सम्पादक – पण्डित कैलाशचन्दजी सिद्धान्ताचार्य; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

२. **आप्तमीमांसा** : श्रीमद् समन्तभद्राचार्य; वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, २१ दरियागज, दिल्ली; वीर सं० २४६४

३. **आत्मधर्म** (गुजराती) : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, जि० भावनगर (गुज०)

४. **आलापपद्धति** : (आचार्य देवसेन; द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, वि० सं० २०२८ के साथ संलग्न)

५. **आचार्य शिवसागर स्मृति-ग्रंथ** : संपादक – पं० पन्नालाल जैन; सौ० भंवरीलाल पाण्ड्या, सुजानगढ़ (राज०)

६. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** : स्वामी कार्तिकेय; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, वाया-आणंद (गुजरात)

७. **गोम्मटसार** (कर्मकाण्ड) : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती; टीकाकार – पण्डित मनोहरलालजी शास्त्री; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, वाया-आणंद (गुजरात)

८. **छहढाला** : पण्डित दौलतरामजी, श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ जि० भावनगर (गुज०)

९. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १** : क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी; वि० स० २०२८

१०. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २** : क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी; वि० सं० २०२८

११. **तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र)** : आचार्य उमास्वामी; सम्पादक – प० श्री कैलाशचन्दजी शास्त्री, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा; वि० सं० २४७६

१२. **तत्त्वार्थ राजवार्तिक** : आचार्य अकलंकदेव; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी; वीर सं० २४७६

१३. **तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक** : आचार्य विद्यानन्दि; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी; वीर सं० २४७६

१४. **तत्त्वानुशासन** : श्री नागसेनसूरि; वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली; ई० सं० १९६३

१५. **तिलोयपण्णत्ति** : यतिवृषभाचार्य; जीवराज ग्रंथमाला, सोलापुर; वि० सं० १९९९

१६. **द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र** : श्री माइल्ल धवल; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी; वि० सं० २०२८

१७. **धवला, पुस्तक १** : आचार्य वीरसेन; जैन साहित्योद्धार फण्ड, अमरावती (महा०)

१८. **धवला, पुस्तक २** : आचार्य वीरसेन; जैनसाहित्योद्धार फण्ड, अमरावती (महा०)

१९. **नयदर्पण** : क्षुल्लक श्री जिनेन्द्रवर्णी; श्री सौ० प्रेमकुमारी जैन स्मारक ग्रंथमाला, दिगम्बर जैन पारमार्थिक संस्थायें, जंवरीबाग, इन्दौर (म०प्र०)

२०. **नियमसार** : आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार – पद्मप्रभमलधारिदेव; श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, जि० भावनगर (गुज०) वीर सं० २५०३

२१. **न्यायदीपिका** : अभिनव धर्मभूषण यति; सम्पादक – दरबारीलाल कोठिया; वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज दिल्ली; वीर सं० २४१४

२२. **परमात्मप्रकाश और योगसार** : मुनिराज योगिन्दुदेव; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुज०) वि० सं० २०१७

२३. **परीक्षामुख** : आचार्य माणिक्यनन्दि; हरप्रसाद जैन वैद्यभूषण; मु० लुहरी पो० मंडावरा, ललितपुर (उ० प्र०); वीर सं० २४६५

२४. **परमार्थ वचनिका** : पं० बनारसीदासजी, (मोक्षमार्ग प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ जि० भावनगर के साथ परिशिष्टरूप में संलग्न)

२५. **पंचास्तिकाय** : आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार – अमृतचन्द्राचार्य एवं आचार्य जयसेन; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात)

२६. **पंचाध्यायी** : पाण्डे राजमलजी; टीकाकार – पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री; सम्पादक – फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री; प्रकाशक – श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, भदैनीघाट, बनारस (उ० प्र०); वीर सं० २४७६

२७. **प्रवचनसार** : आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार – आचार्य अमृतचन्द्र तथा जयसेनाचार्य; श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात); वि० सं० २०३५

२८. **प्रवचनरत्नाकर भाग १** (हिन्दी) : श्री कानजी स्वामी के प्रवचन; श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४ बापूनगर, जयपुर; वि० सं० २०३८

२९. **प्रमेयकमलमार्तण्ड** : आचार्य प्रभाचन्द्र

३०. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** : आचार्य अमृतचन्द्र; टीकाकार – पण्डित टोडरमलजी; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, जि० भावनगर (गुज०)

३१. **पुरुषार्थसिद्धयुपाय :** आचार्य अमृतचन्द्र; टीकाकार – आचार्यकल्प टोडरमलजी एवं पण्डित दौलतरामजी कासलीवाल; मुंशी मोतीलाल शाह, किशनपोल बाजार, जयपुर (राज०)

३२. **मोक्षमार्गप्रकाशक :** आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी; सम्पादक डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, जि० भावनगर (गुज०)

३३. **बृहन्नयचक्र :** आचार्य देवसेन; माणिक ग्रंथमाला, बम्बई; वि० सं० १९७७

३४. **बृहद्द्रव्यसंग्रह :** आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती; टीकाकार -- श्री ब्रह्मदेव; श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात); वि० सं० २०३३

३५. **श्रुतभवनदीपक नयचक्र :** आचार्य देवसेन; वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, कल्याण पॉवर प्रिंटिंग प्रेस, सोलापुर; सन् १९४९ ई०

३६. **समयसार :** आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार – अमृतचन्द्राचार्य; श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात), वीर सं० २५०५

३७. **समयसार :** आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार – आचार्य जयसेन; श्री दिगम्बर जैन समाज, अजमेर (राज०)

३८. **समयसार कलश टीका :** आचार्य अमृतचन्द्र; हिन्दी टीकाकार – पाण्डे राजमलजी; श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात) वीर सं० २५०३

३९. **समयसार नाटक :** कविवर पण्डित बनारसीदास; श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात), वि० सं० २०३२

४०. **सर्वार्थसिद्धि :** आचार्य पूज्यपाद; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी; वीर० स० २४७९

४१. **सन्मतितर्क :**

४२. **संस्कृत-शब्दार्थ कौस्तुभ :** सम्पादक – चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा; रामनारायण वेनीप्रसाद, इलाहाबाद-२

४३. **स्याद्वादमंजरी :** श्री मल्लिषेणसूरि; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुज०)



डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

आयु : ४७ वर्ष

शिक्षा : शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच डी.

जन्मस्थान : बरौदास्वामी, जिला ललितपुर (उ० प्र०)

कार्य : सम्प्रति पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट का संचालन, श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ के रजिस्ट्रार, श्री टोडरमल दि० जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के निदेशक, आत्मधर्म (हिन्दी, मराठी, कन्नड, तमिल भाषाओं में प्रकाशित) के सम्पादक। इसके पूर्व श्री चवलेश्वर पार्श्व० दि० जैन मिडिल स्कूल, पारोली (राज०) के प्रधानाध्यापक एवं शा० उ० मा० विद्यालय, अशोकनगर (म० प्र०) तथा त्रिलोकचन्द जैन कनिष्ठ महाविद्यालय, इन्दौर में अध्यापन।

कर्त्तृत्व : पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व, तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, जिनवरस्य नयचक्रम्, क्रमबद्धपर्याय, सत्य की खोज, धर्म के दशलक्षण, मैं कौन हूँ, वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका, अपने को पहिचानिए, तीर्थंकर भगवान महावीर, वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर, चैतन्य चमत्कार, गोम्मटेश्वर बाहुबली, बालबोध पाठमाला भाग २ व ३, वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ व २, अर्चना (पद्य)– ये सभी आपके द्वारा लिखित व संपादित कृतियाँ है। मोक्षमार्गप्रकाशक, प्रवचन रत्नाकर भाग १ व २, युगपुरुष श्री कानजी स्वामी, बालबोध पाठमाला भाग १, वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग ३ एव तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ व २ का भी संपादन आपने किया है, उनमें कई निबंध व पाठ आपने लिखे है। आपकी कृतियों की १० वर्ष के अल्पकाल मे ही दस लाख से अधिक की बिक्री एव पुस्तकों के गुजराती, मराठी, कन्नड, तेलगु, असमी, तमिल, बगला व अंग्रेजी अनुवादों के प्रकाशन, आपकी लोकप्रियता के प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अभिरुचि : आध्यात्मिक चिंतन-मनन, लेखन एव प्रवचन।

विशेषताएं : सरल, सुबोध, आकर्षक एवं तर्कसंगत शैली के लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता, तथा उच्चकोटि के आध्यात्मिक निबंधकार सरल भाषा मे सिद्धान्तों के प्रतिपादक एव कथालेखक।